मुन्शीजी और उनकी प्रतिभा

मुन्शीजी और उनकी प्रतिभा

सीताराम चतुर्वेदी

राजकमल प्रकाशन दिल्ली

आमुख

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशीजी की साठवीं जन्म तिथि (३० दिसम्बर सन् १९४६) के सुअवसर पर उनकी अगणित लोक-सेवाओ के प्रति सार्वजनिक कृतज्ञता प्रकट करने के लिए बम्बई के प्रमुख नागरिको ने जो प्रशस्त योजना बनाई थी उसका एक मुख्य अंग श्री मुंशी हिन्दी-अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित करना भी था। तदनुसार श्री मुन्शी हिन्दी अभिनन्दन ग्रन्थ समिति ने यह कार्य आदरणीय श्री मुनि-जिन विजयजी को तथा मुझको सौंपा। कई कारणों से यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नही हो सका और ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें अभी और विलम्ब होगा इसलिए यह निश्चय किया गया कि अभी एक एसी छोटी-सी पुस्तक प्रकाशित की जाय जिसमे मुन्शीजी की संक्षिप्त जीवनी हो तथा उनके ग्रन्थों का पूरा परिचय हो। अभिनन्दन-समिति ने यह भार मुझ पर सौंपा और मैंने हर्षपूर्वक उसे स्वीकार भी कर लिया।

श्री मुन्शीजी ने अपनी राष्ट्र-सेवा, साहित्य-सेवा, समाज-सेवा, तथा संस्कृति सेवा के अनवरत और अगणित कार्यो से जो कीर्त्ति, प्रसिद्धि और लोक प्रियता उपार्जित की है वह स्वयं इतनी प्रगल्भ है कि मुन्शी जी का परिचय देनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। वे भारतीय राष्ट्र-सभा के अग्रणी नेताओं में रहे हैं। गुजराती का एक-तिहाई साहित्य उन्ही की साहित्य की साधना का परिणाम है। अखंड भारत आन्दो-लन का एकाकी नेतृत्व उन्होंने ही किया है। लोकमंच से हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने की उन्होंने घोषणा की है। अपनी रचनाओं और वक्तृताओ के द्वारा भारतीय संस्कृति की उत्कृष्टता का उन्होने उद्घोष किया है। भारतीय विद्याभवनके अन्तर्गत संस्कृत, अंग-रेजी, ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल आदि की शिक्षा का उन्होने आयोजन

किया है । मद्य-निषेध के आन्दोलन के लिए उन्होने ही सतत प्रयत्न किया है । पिछले कांग्रेसी मन्त्रिमंडल के समय गृहसचिव के रूप में साम्प्रदायिक दंगों का सफलतापूर्वक तत्काल दमन करके जो इन्होंने अपने व्यवस्था-चातुर्य का परिचय दिया था उसे आज तक लोग स्मरण कर रहे हैं ।

ऐसी बहुमुखी प्रवृत्तिवाले प्रतिभाशील पुरुष के विषय मे, या उसकी रचनाओ के विषय में लेखनी चलाने से पूर्व अपने सामर्थ्य की परीक्षा कर लेना भी मेरे लिए आवश्यक था । किन्तु बाबा विश्वनाथ की कृपा से हमारे मित्रो और सहयोगियों ने मेरा काम सरल कर दिया । जहाँ तक जीवनी का प्रश्न था, वह तो स्वयं मुन्शीजी ने ही आत्मकथा के रूप मे लिख दी थी । मेरे मित्र श्री महेन्द्रकुमार शास्त्री ने जीवन-चरित्र की सब सामग्री सकलित करदी,मुझे केवल भाषा का सस्कार देना भर रह गया था।

मुन्शीजी की अगरेजी पुस्तको के सम्बन्ध मे मैंने श्री कन्हैया-लाल मुन्शी डायमंड जुबिली कमिटी द्वारा प्रकाशित 'मुन्शी:हिज़ आर्ट एंड वर्क' नामक ग्रन्थ से सहायता ली । इस प्रकार लगभग एक वर्ष मे ग्रन्थ ने अपना यह रूप धारण किया ।

इस ग्रन्थ के लेखक कार्य मे दो मित्रो ने बहुत सहयोग दिया है— एक तो काशीके श्री श्यामनारायण पाडेने जिन्होंने जीवन चरित्र भागकी सुन्दर प्रतिलिपि की, और दूसरे श्री महेन्द्रकुमार मानव, जिन्होंने गणेश का काम किया अर्थात् जो मैं बोलता गया उसे वेग से लिखते गए । मै अपने इन मित्रो का हृदय से आभार मानता हूँ ।

हमे आशा और विश्वास है कि मुंशीजीके जीवन-चरित्रसे और उनकी कृतियोके परिचय से हिन्दीके सहृदय पाठकोका अवश्य मनोरंजन होगा ।

वसंत पंचमी
संवत् २००४

सीताराम चतुर्वेदी

सूची

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी

: १ :

भृगुकच्छ के मुन्शी

सम्पूर्ण महीतल को क्षत्रियहीन कर देने की कुलिश-प्रतिज्ञा लेकर भगवान् परशुराम ने अपने परशु की प्रचण्ड धारा में पडी हुई जिस माहिष्मती नगरी को विध्वस्त कर दिया था वह किसी समय नर्मदा तट पर बसी हुई धनधान्य पूर्ण, जन-संकुला, परम सुन्दरी नगरी थी। उस महाविनाश के होता की स्मृति को चिर-नवीन बनाये रखने के लिए आज भी नर्मदा के सागर संगम पर दहेज ग्राम के पास वाले लुवारा ग्राम में परशुराम तीर्थ समवस्थित है। महाभारतके वनपर्व में भी चाकेद के ठीक सामने भार्गव च्यवन के वैदूर्य पर्वत का उल्लेख किया गया है। यह आज का भडौंच बौद्ध काल से ही भृगुकच्छ केनाम से प्रसिद्ध है, और यहाँ भृगु ऋषि का अत्यन्त प्राचीन मन्दिर भी बना हुआ है।

अपनी प्राचीनता के इतने प्रमाण लेकर भार्गव ब्राह्मणों का एक बडा समुदाय इस प्रदेश की परम्परा और संस्कृति की रक्षा का पुण्य कार्य करता हुआ अभी तक इस प्रदेश में रहता चला आया है। गुजरात मे जब तक क्षत्रिय या हिन्दू राजाओं ने शासन किया तब तक ये ब्राह्मण भी शर्मा और भार्गव का अल्ल लेकर निरन्तर फूलते-फलते रहे किन्तु जब गुजरात भी यवनों के करवाल का पानी पीने को विवश हुआ तब वर्णाश्रम मर्यादा को भो बडा गहरा झटका लगा और उस झटके ने ब्रह्मस्वो विप्रों को भी एक बार विचलित कर दिया। राज्य सञ्चालन के यान्त्रिक अंग बनने की जो तृष्णा चिरकाल से मनुष्य की उदात्त वृत्ति को पराभूत करती रही है उसके ये ब्राह्मण भी अपवाद नहीं बन सके,

और इसीलिए जब मुग़ल भारत के सम्राट बनकर भली भाँति जम गए थे तभी इन्हीं भार्गवों में से एक श्री नन्दलाल जी दिल्ली पहुँचे और राजकीय कार्यालय में लेखक बन गए। काव्य-रसिक बादशाह मुहम्मदशाह आलमगीर ने फारसी के सुकवि श्री नन्दलालजी की कविता पर मुग्ध होकर उन्हें मुंशी बना दिया और यह अधिकार-पत्र दे दिया कि भड़ौच के प्रत्येक गाँव से एक-एक रुपया उगाह कर भेजा करें।

इन्ही नन्दलाल मुंशी के पुत्र थे हरिवल्लभजी जिन्होंने अपनी एक-मात्र कन्या का विवाह किया मधुभाई 'वियासा' के पौत्र केशुरदास से, और केशुरदास को भी शाहआलम ने मुंशी पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। इस प्रकार मातृ-पक्ष की मुन्शीगिरी पितृ-पक्ष को प्राप्त होगई और भृगुवंशी ब्राह्मण परिवार मुंशी परिवार कहलाया जाने लगा।

इसी परिवार की परम्परा में श्री माणिकलालजी भी थे जो बारह रुपये मासिक की नौकरी से उन्नति करते-करते डिस्ट्रिक्ट डिप्टी कलक्टर हो गए थे। श्री माणिकलालजी और उनकी साध्वी धर्मपत्नी तापी बाई दोनों आदर्श दम्पति थे, आदर्श गृहस्थ की इच्छा और मर्यादा का निर्वाह करते थे। शील और विनय की अक्षय निधि के साथ-साथ माणिकलालजी में निष्कपटता और स्पष्टवादिता भी थी। क्रोध और आवेश उन्हें स्पर्श नही कर पाता था। यदि भूले-भटके कभी आँखों में रोष आ भी गया तो वह उनके संयम के आगे टिक नही पाता था,पवन से उड़ाये हुए बादल के समान क्षण-भर में लुप्त हो जाता था। वे स्वभाव के इतने सरल थे कि कोई भी प्रपंची अत्यन्त सरलता के साथ उन्हे ठग सकता था। उनका हृदय शिरीष के कुसुम के समान कोमल था और उनका मन दर्पण के समान स्वच्छ। यदि वे एक शब्द बोल देते थे तो उसकी प्रामाणिकता पर तर्क नहीं किया जा सकता था। यद्यपि वे ठठाकर नही हँसते थे किन्तु उनकी बातो में सरस विनोद और शील-पूर्ण हास्य अवश्य रहता था। यद्यपि उन्होंने बहुत ऊँची शिक्षा नहीं

पाई थी किन्तु अपनी मातृ-भाषा गुजराती के वे कुशल लेखक और मधुर वक्ता थे।

श्रीमती तापी बाई ने उन्हें घर की चिन्ता से मुक्त कर दिया था। अरुन्धती और अनुसूया की परम्परा में सधी हुई पतिव्रता के समान उनका सम्पूर्ण आयास पति को सुखी करने मे लगा रहता था और इसलिए वे गृहस्थी के दैवी सुख की साक्षात् प्रतिमूर्ति थीं। अनिद्य और अविरल स्नेह के सुधा-सागर में संनिमग्न होकर वे अपने पति के अर्जित धन की सुव्यवस्था करती थीं और जब घर के कार्य से मुक्त गृहिणी को गृहपति अपने पठित और अनुभूत विषयों और घटनाओं की कथा सुनाने लगते थे तो भक्त की अविचल मुद्रा साधकर एकाग्र दृष्टि से वह अपने इष्टदेव का रूप पान करती हुई एकनिष्ठ होकर सब सुनती रहती थी। वे जो कुछ करती थीं उसका श्रेय पति को दे देती थी और पति भी उस स्नेह-मूर्ति की त्याग-भावना का आदर करते हुए उसकी सम्मति बिना उँगली तक न हिलाते। वे दोनो एक दूसरे मे इतने पूर्ण हो गए थे कि जीवन की पूर्णता के लिए उन्हे किसी की मित्रता या कृपा की आवश्यकता ही नही रह गई थी।

इन्हीं दोनो के अखण्ड स्नेह के साक्षात् फल के समान, प्राकृत जन्म के सुकृतो के परिणाम के समान इस स्निग्ध युगल के घर में सन् १८८७ के दिसम्बर मास को उनतीसवीं तिथि, पौष मास की पूर्णिमा को मध्याह्न-काल मे जन्म हुआ एक बालक का जिसके कोमल अंगो की धवलता मे भावी महत्ता की ज्योति सहसा स्फुरित हो उठी। बड़ी प्रतीक्षा के पश्चात्, बड़ी मनौतियाँ मानने पर भगवान् कृष्ण के समान यह भी छः पुत्रियो पर जनमा था इसीलिए इसका नाम रख दिया गया 'कन्हैया'।

: २ :

कनुभाई

बचपन में कन्हैया का स्वरूप और स्वभाव भी कन्हैया जैसा ही

था। सात वर्ष की अवस्था तक ये कमर में करधनी, हाथ में सोने के कड़े, कानो में मोतियों की लड़ी और हाथ में धनुष वाण लिये हुए विनोदी स्वभावसे मन्दिरोंमें खेलते-फिरते थे। उस समय इनकी माता ने इनको लक्ष्य करके अनेक पद बनाये थे जिन्हें वे गाया करती थीं।

गुजराती नामकरण के अनुसार बचपन में इनका नाम कनुभाई था और सन् १९१२ तक ये कनुभाई ही कहलाते रहे। ये अधिकतर अपने पिता के साथ ही रहते थे। सन् १८९६ और १८९७ में ये अपने पिताजी के साथ,सूरत में ही रहते थे जहाँ दोपहर के समय एक अध्यापक इन्हे पढ़ाने के लिए आते थे। ये गणित से बहुत भागते थे परन्तु लिखने-पढने का व्यसन इन्हे बहुत था। सन्ध्या के समय इनके पिताजी 'रीडिग विदआउट टीअर्स' (विना रोये पढ़ना) नामक पुस्तक मे से इन्हे अंग्रेजी पढ़ाते थे। उनकी इच्छा थी कि बेटा शासनाधिकारी बने, इसीलिए बचपन से ही इनके पिता ने इन्हे वैसी ही शिक्षा देने की व्यवस्था की थी। वे कभी-कभी रात्रि को भोजन के वाद तबला भी बजाते थे और मन्द स्वर से गाते भी थे किन्तु अपनी पुत्रियों के वैधव्य के पश्चात् उन्होंने गाना-बजाना छोड दिया।

इन्ही दिनो इनके यहाँ बीकानेर से एक नाटक-मण्डली आई। उसके नाटक देखकर इनकी नायकों की ओर अभिरुचि बढ़ी। बड़े घर के होने से ये स्वयं तो उसमे भाग नहीं ले सकते थे परन्तु उसकी व्यवस्था देखने ये प्रतिदिन जाया करते थे। उसी समय इन्होंने शङ्कर नामक एक बालक को अपना मित्र बनाया। उससे ये पाउडर लगाना, पेटीकोट पहनना, झूठे बाल बाँधना आदि सब चुपचाप सीखते थे और जब कोई नही होता था तब कोठरी बन्द करके, सामने दर्पण रखकर, कमर पर हाथ रखकर ये थोडा-थोडा नृत्य भी करते थे और अहर्निश नाटकीय कल्पनाओं में मस्त रहते थे। श्री मुंशी के मानस पर पड़ा हुआ बचपन का यह संस्कार ही इन्हें सफल नाटककार बना सका है।

: २ :

यज्ञोपवीत संस्कार

सन् १८६९ तक कनुभाई यज्ञोपवीत के योग्य होगए थे। अतएव इनकी माता इन्हे भडौंच ले आईं। यज्ञोपवीत मे अभी एक महीने का विलम्ब था अतएव भडौंच में ही गुजराती की पाँचवी कक्षा मे इन्हें प्रविष्ट करा दिया गया। परन्तु, जैसे-जैसे यज्ञोपवीत का समय पास आता गया वैसे-वैसे ये ब्राह्मणत्व की कल्पना में निमग्न होते गए, मानो किसी अज्ञात महासागर को तैरने के लिए तत्पर होकर ये किनारे पर खडे हुए हों। ये विचार करते थे कि मैं भृगु, परशुराम, वशिष्ठ, विश्वामित्र और व्यास की पंक्ति में आकर क्या उनके जैसा हो सकूंगा। यह भयङ्कर संशय इनके छोटे-से हृदय को अहर्निश मथा करता था। गुजरात की प्रथा के अनुसार जब कनुभाई हाथ में यज्ञोपवीत लेकर बडो की आज्ञा लेने के लिए उठे तब इनकी आँखो में पानी और हाथ मे कम्पन था। परन्तु इन्हे विश्वास हो रहा था कि मेरे पूर्वज निरन्तर मेरी सहायता कर रहे हैं। यज्ञोपवीत पहनकर ये अपनी गम्भीरता मे मग्न होकर त्रिकाल संध्या कण्ठस्थ करने लग गए। ये भी भृगु ऋषियो मे मिलकर महर्षि बन जाना चाहते थे। मानसिक संस्कारों का पोषण करके,भूतकाल को सजीवनकर देने वाली सांस्कृतिक विधियां हमारी संस्कृतिको कैसे सुदृढ़ करती हैं इसके ये जीवित आदर्श बने। शैशवावस्थामे इनके चित्त पर पडी हुई यह भावना आज मूर्त्तिरूप में सर्वत्र दिखाई दे रही है। उसीके फलस्वरूप श्री मुंशी भारतीय-संस्कृति के विविध अङ्गों को पुनरुज्जीवित करने के लिए आज प्राणपण से चेष्टा कर रहे हैं।

उस समम ये पक्के ब्राह्मण थे। मिथ्या जप करने वालो के प्रति इनको बड़ी घृणा थी। तब ये विचार करते थें कि मिथ्या जप करने वालों के कारण ही पृथ्वी पर मानवता की अधोगति हुई है और इसी गम्भीर

विचार के परिणामस्वरूप ब्राह्मणत्व का उद्धार करने के शुभ आशय से इन्होंने एक पुस्तक लिखनी प्रारम्भ की जिसका नाम इन्होंने रखा 'ब्राह्मणों का कर्तव्य ।' इस पुस्तक के आरम्भ मे मिथ्या जप करने वालों के प्रति बडे कड़े आक्षेप किये गए थे । थोडे दिनों के पश्चात् यह पुस्तक अधूरी छोडकर इन्होंने एक डायरी लिखनी प्रारम्भ की । डायरी जनवरी १८९७ से प्रारम्भ की गई थी जिसके प्रारम्भ में नांदीरूप से भर्तृहरि का यह प्रसिद्ध श्लोक अंकित किया गया था ।

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथा मूकभावः परेषाम् ।
तृष्णास्रोतो विभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः ॥

[जीवहिंसा न करना, दूसरे का धन न लेना, सत्य बोलना, उचित अवसर पर शक्ति के अनुसार दान देना, दूसरों की स्त्रियों की बाते चलने पर चुप रहना, लालच न करना, बड़ों का आदर करना, शास्त्र के अनुसार आचरण करना ये ही श्रेष्ठ मार्ग है ।]

यज्ञोपवीत के तीन वर्ष बाद जब इनके पिता भडौंच मे डिस्ट्रिक्ट डिप्टी कलेक्टर होकर गये तब ये भी सूरत से भडौंच चले आए । इन वर्षों मे श्री मुंशीजी, की पढ़ने की ओर अधिक अभिरुचि बढ़ी । इन्हीं वर्षों मे श्री मुंशीजी ने एलेग्जांदेर ड्यूमा के 'थ्री मस्केटीअर्स' आदि उपन्यास पढ़े और इनकी आंखो के सामने नवीन सृष्टि का निर्माण होने लगा । इन कथाओं में ये इतने मग्न रहते कि सांस लेने तक का इन्हे अवकाश नही था । दार्तान्या, आथोस, मिलादी, ब्राजिलोन और दला विलियेर इन सबका इन्होंने बार-बार पारायण किया । पीछे तो ड्यूमा की सृष्टि इन्ही की सृष्टि बन गई । इन्होंने १९२३ मे लुव्र वेरसाई और फ्राण्टेब्लो पढ़े परन्तु एक अपरिचित प्रेक्षक की दृष्टि से नहीं, वरन् इस प्रकार मानो वर्षों के पश्चात् कोई अपना ही घरवासी मिलने चला आया हो । मुंशीजी के लिए ड्यूमा केवल उपन्यासकार नही है, वह इनकी

कल्पना-सृष्टि का एक विधाता है। इसका ऋण मुंशीजी ने कभी अस्वीकार नही किया है। उपन्यास लिखने की कला मे ड्यूमा मुंशीजी का प्रेरणा-गुरु बना रहा है।

: ४ :

वर राजा

सन् १६०० ई० में हमारे देश में भयंकर अकाल पडा। वागरा जिले मे दुष्काल ने अत्यन्त विकराल स्वरूप धारण कर लिया था। यह जिला इनके पिताजी के अधीन था इसलिये उन्हें बहुत दौड-धूप करनी पड़ती थी। फलस्वरूप इनके पिताजी बीमार हो गए, आँखो पर सूजन छा गई, छाती भी सूज गई और उनकी स्मृति नष्ट होने लगी। महीनों तक वे मृत्यु और जीवन के झूले मे झूलते रहे। एक दिन संध्या को ऐसा प्रतीत हुआ कि अब पिताजी रात्रि नहीं बिता सकेंगे। चारो ओर रोना-पीटना मच गया। मुंशीजी की माता महादेवजी के मन्दिर मे चली गईं और धरती पर शिर टेक कर प्रार्थना करने लगीं कि पति के पहले मेरी मृत्यु हो जाय। इनकी बहने भी एक के बाद एक महादेवजी के मन्दिर मे प्रार्थना कर आईं कि पिताजी को बचाकर उनके बदले में हमारे प्राण ले लें। उस समय मुंशीजी के मन मे भी विचार आया कि माता का और बहनो का जीवन लेकर महादेवजी पिताजी को जीवित नही करना चाहते हैं पर सम्भवत. मेरे प्राण लेकर पिताजी को जीवित कर दें। ये मन्दिर मे गये। दीपक मंद-मंद जल रहा था। इन्होने पृथ्वी पर सिर रखकर प्रार्थना की 'भगवान्! आवश्यकता हो तो मुझे ले लो परन्तु मेरे पिताजी को बचा दो।' चन्द्रशेखर हृदय वाले थे। उन्होंने न तो उन्ही में से किसी के प्राण लिये और न उनके पिताजी के ही लिये।

इनके पिताजी अच्छे तो हुए परन्तु जीवन से उनका विश्वास उठ गया और अपने एक-मात्र पुत्र का विवाह तत्काल कर देने को वे उत्सुक हो उठे। उस समय कनुभाई तेरह वर्ष के थे और अभी मैट्रिक में

किया । उस समय इनके सौभाग्य से विद्यार्थियो को प्रेरणा देकर उनके भावी जीवन पर दृढ़ और स्थायी प्रभाव डालने की शक्ति रखने वाले दो प्रतिभाशाली आचार्य वहाँ पढ़ाते थे—एक थे आचार्य जगजीवन वल्लभ जी शाह और दूसरे थे आचार्य अरविन्द घोष। आचार्य शाह तर्क शास्त्र और तत्वज्ञान के अध्यापक थे और आचार्य घोप अंग्रेजी और फ्रेंच के आचार्य । शाह पाश्चात्य संस्कृति के पक्षपाती थे । उनके जीवन पर अंग्रेजी लेखक मारटीनो का अद्भुत प्रभाव था । धार्मिक और नैतिक जीवन के वे बडे कट्टर समर्थक थे । विद्यार्थियों से वे बहुत अधिक सम्पर्क रखते थे और विद्यार्थियो के साथ विविध प्रकार की बाते करके उनको बातो-ही-बातों मे उपदेश देते तथा उनके विचार उदार बनाते थे। कालेज की वाद-विवाद सभा में वे बार-बार सभापति पद से सुन्दर भाषण देते थे । आचार्य शाह के प्रभाव से कालेज के बहुत से विद्यार्थी धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र मे बडे निष्ठावान निकले ।

आचार्य शाहके एक प्रिय शिष्य थे पी० के० शाह । पी० के० शाह के साथ बैठकर कनुभाई ने तत्व-ज्ञान की पुस्तकें पढने का प्रयत्न किया और मेइन का 'मानव के अधिकार' मिल का 'स्वातन्त्र्य', मीकेलेट का 'फ्रांस का विप्लव' इत्यादि पुस्तकें पढ़ डालीं ।

दूसरे आचार्य थे अरविन्द घोष जो बहुत दिनो तक वहाँ नही रह सके । वे चले गए और वहाँ वे राष्ट्र-सेवा में निमग्न होकर 'बन्दे-मातरम्' का सम्पादन करने लगे । 'बन्देमातरम्' के लेख पढ़कर मुंशी जी को बडा आनन्द मिलता था । फरवरी सन् १९०६ मे श्री अरविन्द घोष ने जो भाषण दिया था उसकी प्रतिध्वनि बहुत दिनो तक इनके कानो मे गूँजती रही । १५ फ़रवरी १९०६ की दिनचर्या में मुंशीजी ने इस सम्बन्ध में लिखा है—

'अरविन्द घोष का भाषण सुना । हिन्दुस्तान का उद्धार हमारे ही हाथ मे है । आत्मश्रद्धा रखो । अपना उद्धार स्वयं ही करो । तुम जीवित

रहना चाहते हो तो अपने लिए जीवित रहो। जिस क्षण तुम स्वाधीन होने का सङ्कल्प करोगे उसी क्षण तुम्हारा ध्येय सिद्ध होगा।'

यह दैवी संदेश तो मुंशीजी के लिए नवीन ही था जो इनके जीवन को वसत ऋतु की पहली मधुर लहर की भाँति नव-पल्लवित कर रहा था। अरविन्द घोष जब आचार्य थे तब मुंशीजी उनके सम्पर्क में आये थे परन्तु इस समय तो वे अपने एक मित्र के साथ विशेष रूप से उन्हीं-से मिलने गये थे। जो प्रश्न ये पूछने गये थे उसे उन्होंने डरते-डरते पूछा—'राष्ट्रीयता का विकास कैसे हो सकता है?'

श्री अरविन्द घोष अपनी मन्द और मधुर रीति से हँसे और दीवार पर भारत का एक मानचित्र दिखाकर कहने लगे—'यह देखा? भारतमाता का चित्र। इस मानचित्र पर देखो। इसके नगर और इसके पर्वत, इसकी नदियाँ और इसके जङ्गल, यह इसकी स्थूल देह है। इसके सब निवासी इसके छोटे-बड़े तन्तु है। इसका साहित्य, इसकी स्मृति और वाणी है। इसका जीवन इसकी चेतना है। इसकी संस्कृति की भावना इसका प्राण है। इसका स्वातन्त्र्य और सुख इसका मोक्ष है। इस प्रकार भारत का जीवित-माता के रूप से ध्यान करो और नवधा-भक्ति से इसे भजो।'

अरविन्द घोष के इस प्रवचन से मुन्शीजी निराश हुए। इन्हे तो यह आशा थी कि राष्ट्रीयता का अभ्यास करने के लिए वे कुछ पुस्तको की सूची लिखायंगे परन्तु ये क्या जानते थे कि उस एक वाक्य में श्री अरविन्द ने राष्ट्रीयता के साहित्य का तत्व निकालकर रख दिया है।' इसके पश्चात् उन्होंने प्रश्न किया कि तुमने विवेकानन्द की पुस्तके पढी हैं? मुन्शीजी ने कहा—'नहीं।'

'उन्होंने योग पर लिखा है उसे पढ़ना। इससे कुछ ध्यान का स्वरूप समझ मे आयगा'—वे बोले।

इस बात से असन्तोष रहने पर भी ये विवेकानन्दजी की पुस्तके पढ़ने लगे। इन कृतियो को पढ़ते समय भगवान् पतंजलि से उनका

पहले-पहल परिचय हुआ। उन्होंने सद्गत मणिलाल ननुभाई के द्वारा पातन्जलि के कुछ सूत्रो पर लिखी हुई अंग्रेजी पुस्तक बडी कठिनाई से प्राप्त की और उसे पढने लगे।

मुंशीजी के पास का यह योगसूत्र आज जीर्ण हो गया है। उस पर बार-बार पुट्ठे चढ़ाये गए हैं। कई बार उन्होंने इसे बिना समझे या कुछ उलटा समझकर भी पढ़ा है। इस प्रकार भगवान् पातञ्जलि सुख में और दुःख में, एकान्त में और संघ मे इनकी रक्षा करते हुए, इनको डूबने से बचाते हुए, इनको प्रेरित करते हुए तथा इनका सञ्चालन करते हुए इनके जीवन के साथी रहे हैं। जब इनका योग सूत्र से पहले-पहल परिचय हुआ तब ये उसमे से कुछ भी नहीं समझ सके थे, परन्तु इनके लिए इतना ही पर्याप्त था। भगवान् पातन्जलि के स्पर्शसे इनके पाश्चात्य संस्कार का अंध-मोह घटने लगा और धीरे-धीरे नष्ट ही हो गया।

कालेज में पढते समय एक बार ये वाद-विवाद मे असफल हो गए। इस निष्फलता से इन्हे बडी ग्लानि हुई और वाणी की प्रतिपत्ति प्राप्त करने के लिए ये प्राणपण से जुट गए। इन्होने अपने पिताजी के वाल-चेम्बर्स के वाक्पाटव का अभ्यास प्रा रम्भ किया। उसमें दिये हुए पेट्रिक हेनरी, चेथाम, शेरीडन, बर्क इत्यादि के भाषणों के अनुच्छेद-के-अनुच्छेद घोट डाले। सन् १९०२ की अहमदाबाद कांग्रेस में श्री सुरेन्द्र बनर्जी के ओजस्वी भाषण पर ये लट्टू हो गए और तब से मुंशीजी ने वाक्पटुता का विकास करने के लिए व्यवस्थित रीति से योजना तैयार की और 'बेलस लेटर्स' के डेमोस्थेनीज् और सिसेरो के प्रकरणों को मांज डाला। ये डटकर श्री सुरेन्द्रनाथ तथा अन्य अनेक भारतीय नेताओ के भाषण कण्ठस्थ करने लगे। किस अवसर पर क्या कहना चाहिए तदनुकूल वाक्य लिख-लिखकर इन्होंने कण्ठस्थ कर लिए। संध्या को कालेज के अंधेरे निर्जन भवन में ये सुरेन्द्रनाथजी की शैली मे भाषण करने का अभ्यास करते, भडौच जाते समय मार्ग में नर्मदा के पुल के नीचे स्वर ऊँचा करने के लिए चिल्लाते और दर्पण के सामने

अभिनय, चेष्टा और भावभंगी का समीकरण करते। इतने भगीरथ-प्रयत्न के पश्चात् सन् १६०६ में मुंशीजी बडौदा कालेज के वक्ता छात्रों में सर्वश्रेष्ठ माने जाने लगे।

मुंशीजी ने जिस प्रकार वाक्पटुता प्राप्त करने के लिए अश्रान्त परिश्रम किया उसी प्रकार इन्होंने अंग्रेज़ी लिखने का अभ्यास भी प्रारम्भ किया। सन् १६०४-५ और ६ मे 'बेल्स लेटर्स' में से शैली, सौदर्य, सरसता और वाक्पटुता से सम्बन्ध रखने वाले विवेचनों का इन्होने गंभीर स्वाध्याय किया। इस पुस्तक मे दिये हुए नियमों के अनुसार इन्होंने निबन्ध लिखे। एक निबन्ध लिखने के पश्चात् ये उस निबन्ध को पुनः इस दृष्टि से परख लेते थे कि शब्द और वाक्य नियमानुसार हैं या नही ? एक बार तो जान स्टुअर्ट मिल की 'लिबर्टी' इन्होने आधे से अधिक लिख ली। कार्लाइल, डीक्विंसी और मेकोले का शब्द-वैभव इनके लेखों मे दृष्टिगोचर होने लगा। वक्तव्य की अपेक्षा शब्द-वैभव की ओर ये अधिक ध्यान देने लगे और भाषा शुद्धि की जो क्रिया मन मे करनी चाहिए वह ये कागज पर करने लगे।

सन् १६०४ मे मुंशीजी ने कालेज के अर्धवार्षिक पत्र मे लेख लिखने प्रारम्भ किये। वाक्पटुता का विकास करने तथा निबन्ध-शैली का विकास करने के अतिरिक्त मुंशीजी ने इस समय पढ़ने की ओर भी बहुत ध्यान दिया। इन्होने लिटन, मेरी कौरेली और ड्यूमा की वार्तायें पढ़ी। वार्ता और उपन्यास साहित्य जितना भी उपलब्ध हो सका उतना इन्होने मनोयोग पूर्वक अनेक बार पढा। अंत में १६०५ ई० में मुंशी जी प्रथम श्रेणी मे एल० एल० बी० परीक्षा मे उत्तीर्ण हुए, जिसके फलस्वरूप इन्हे बडौदा कालेज से दीवान बहादुर अम्बालाल साँकरलाल पारितोषिक प्राप्त हुआ। फिर १६०६ मे इन्होने बी० ए० परीक्षा में द्वितीय श्रेणी में सफलता प्राप्त की। उसमे भी इन्होने बडौदा कालेज का ईलियट मेमोरियल पारितोषिक प्राप्त किया।

जून १६०७ के प्रारम्भ मे मुँशीजी एल० एल० बी० का अभ्यास

करने के लिए मुंबई आये और तभी से मुंबई-वासी हो गए। ये जिस स्थान पर अपने मामा के यहाँ रहते थे वहाँ पीपलवाड़ी में उस समय तीन चाले थी जिनमें लगभग तीन सौ कुटुम्ब रहते थे। नल पर औरतो की बराबर भीड लगी रहती थी और अहर्निश झगडे हुआ करते थे।

चारो ओर रसोई-गृह में, चाल मे और कठेरे पर गंदगी रहती थी। दोपहर को बहुत-सी स्त्रियाँ चाल मे से नीचे जूठन डालती थी। स्थान-स्थान पर कूड़े के ढेर लगे रहते, सारे घर मे रसोई और संडास की दुर्गंध के त्रासदायक मिश्रण से प्राण रुंधे जाते थे। चाल में आने के लिए एक गली थी जिसमे नाली का पानी उन्मुक्त रूप से बहता रहता था और बीच बीच मे रखी हुई ईंटों पर पाँव धरकर गली को पार करना पडता था।

इस त्रासदायक स्थान मे रहने के कुछ दिनो पीछे एल० एल० बी० का अभ्यास करने वाले दो मित्रों के साथ मिलकर मुंशीजी ने निश्चय किया कि हम तीनो को अलग अलग कमरा लेकर उसमे साथ-साथ रहना चाहिए। तीनो मिलकर एक कमरा ढूंढने के लिए निकले। वे जहाँ जाते वहाँ प्रश्न किया जाता कि 'पत्नी है?' 'बैरी छे के?' 'खटल हाय का?' ये निषेधात्मक उत्तर देते अतएव उन्हे तुरंत भगा दिया जाता। इस समय मुंशीजी के प्राचीन अध्यापक की बात सच्ची सिद्ध हो रही थी कि'पत्नी विहीन पुरुष विश्वसनीय कैसे हो सकता है?'

अन्त में काँदेवाडी में कानजी खेत-सी की चाल में द्वारपाल भैया के निषेधात्मक उत्तर की अवगणना करके भी ये ट्रस्टियो के पास पहुंच गए। ट्रस्टी ने मुंशीजी का नाम सुनकर पूछा—"डाकोर मे जो अबुभाई मुंशी थे क्या उनके आप सम्बन्धी होते है?'

"जी, मैं उन्हींका भतीजा हूँ" मुंशीजी ने कहा।

"भैयाजी" ट्रस्टी ने आज्ञा दी, "इनको अच्छी खोली (कमरा) दो।" उस दिन यह कौन जानता था कि मुंशीजी एक दिन इसी चाल के ट्रस्टी होने वाले हैं।

मुंशीजी ने जो खोली ली उसके पास एक दीन मारवाडी कुटुम्ब रहता था। प्रातःकाल आठ बजे से रात्रि-पर्यन्त पुरुष वर्ग काम पर जाता था और मारवाडिने इनकी चाल के भाग की ओर राज्य करती थीं। इस-लिए संध्याके चार बजे तक इन्हे खोलीमे ही बैठे रहना पडता। यहाँ तक कि पढना-लिखना, आना-जाना सब कठिन हो गया।

इनकी खोली नल और संडास के सामने ही थी। प्रातःकाल से ही नल पर कुम्भ लग जाता था और एक-एक नहाने वाली स्त्री पर दो-दो स्त्रियाँ पहरा देती थी। इसलिए विवश होकर अन्तःपुर की रानियो की भाँति इन्हे भी मुंह छिपाकर अपनी खोली मे ही बैठे रहना पडता था। मध्याह्न के समय जब ये स्त्रियां खोली मे बैठकर वेणियाँ गूँथती थी तब भी इन्हें अपने द्वार बन्द ही रखने पड़ते थे। यहाँ तक कि द्वार खोलकर त्रिया-राज्य का विप्लव देखने का आनन्द भी ये नहीं ले सकते थे।

इस शम्भु मेले से, दुर्गन्ध से, निःसीम और असह्य जीवन से मुंशी जी के चित्त मे अत्यन्त असन्तोष हुआ। उन्हे ऐसा जान पड़ने लगा मानो बंबई साक्षात् लङ्कापुरी हो जहाँ केवल राक्षस-ही-राक्षस रहते हों। 'इहा कहा सज्जनका बासा'। वहाँ इनकी दिनचर्या यह थी कि प्रातःकाल उठकर थोडा बहुत पढ़ते थे और दस बजे तक खा-पीकर सो जाते थे। दो बजे ये काँदेवाडी से निकलते। फणसवाडी में 'दीड की चा सिगल' और 'दीट की चा लीमजी' खाकर चलते-चलते पेटीट लायब्रेरी में पहुंचते। वहाँ दो-तीन घंटे पढकर लॉ-कालेज मे पौने छः बजे पहुँच जाते और सात बजे वहाँ से पैदल घर लौट आते।

इन तीनों सहाध्याइयो का यह कोई नियम नही था कि साथ-साथ भोजन करे। बहुत बार तो ऐसा होता था कि रसोइये का पुत्र स्वयं खा-कर इनके लिए ढंककर जो छोड जाता था वही ठंडा भोजन करके ये लोग संतोष कर लेते थे। और बिछाने के लिए एक चटाई थी जिसे बिछा कर वे कुछ समय तक तो पढ़ते, फिर उसी पर सो जाते। प्रायः ये

तीनों सहाध्याई रात को भी मिलकर बातें नहीं कर पाते थे।

उस समय पेटिट लायब्रेरी ही इनकी प्रेरणा-स्थली थी। श्री दलपत राम भाई के द्वारा लाइब्रेरी के कार्यालय के किसी व्यक्ति से इनका परिचय हो गया था और बिना शुल्क के ही इन्होंने लाइब्रेरी को अपना घर बना लिया था। वायु, प्रकाश और दूसरी अनेक सुविधा वाले इस विशाल पुस्तकालय मे ये जगत् के साहित्य-स्वामियों का साहचर्य पाने लगे।

कुछ दिनो तक इन्हे इतिहास में एम० ए० करने की धुन लगी रही परन्तु शरीर की अशक्ति को देखकर इन्होने विचार छोड़ दिया और सिविल सर्विस की परीक्षा के लिए साहित्य, इतिहास आदि विषय पढ़ने लगे। उस समय इनके सामने सबसे बड़ी समस्या थी व्यय की। उसके लिए भी इन्होंने मार्ग ढूंढ निकाला। बड़ौदा कालेजसे पहली एल०एल० बी० परीक्षा में प्रथम उत्तीर्ण होने के कारण इन्हे अम्बालाल साँकरलाल पारितोषिक, और बी० ए० में प्रथम आने के कारण ईलियट पारितोषिक मिले थे। दोनों पारितोषिक पुस्तकों के रूप में मिलनेवाले थे। दलपतराम किसी पुस्तक बेचनेवाले के साथ सौदा कर आए। कुछ पुस्तके ली, उनका पुर्जा लिया और यह वचन ले लिया कि जो अच्छी प्रतीत नहीं होगी उन्हें लौटा देंगे। कालेज मे पुर्जा भेजकर पैसे मंगा लिये। इन पुस्तकों में से बहुत-सी पुस्तकें उस पुस्तक-विक्रेता को लौटा दी और इस प्रकार लगभग सौ रुपये इन्होने सामान्य व्यय के लिए जुटा लिये।

मुंशीजी के निकटतम मित्र प्राणलाल भाई १९०७ में बी० ए० में पास हुए। अतएव इन दोनोंने १९०८ मे एक तीसरे मित्र के साथ मिल कर गिरगाँव रोड पर खोली लेकर एक साथ रहना प्रारम्भ किया। पहले की अपेक्षा रहने को अच्छा, खाने को अच्छा तथा सहवास भी अच्छा था। अतएव ये तीनों मित्र आनन्दमय जीवन व्यतीत करने लगे।

सन् १९०९-१० में ये अपनी पढ़ाई में कुछ शिथिल होगए थे और

इनका बहुत-सा समय दूसरों से मैत्री जोड़ने, गायन और टेनिस में, गाँव की और लोगों की पटेलाई करनेमे चला जाता था। फिर भी ये अंग्रेजी में लेख लिखते रहते थे और उनमे से बहुत कुछ 'हिन्दुस्तान रिव्यू' 'इण्डियन लेडीज़ मेगेज़ीन' और 'ईस्ट एंड वेस्ट' मे प्रकाशित हुए थे। भाषण करने का अभ्यास तो कमरे के एकान्त मे चलता ही था।

इस समय इन्होने सिविल सर्विस की परीक्षा के लिए विलायत जाने का बहुत प्रयत्न किया। इनके मित्र धीरजलाल नाणावटी ने वहाँ इनके लिए पढ़ने की और रहनेकी व्यवस्था भी कर दी थी। केवल व्ययके लिए पैसे कहाँ से आवे यही जटिल प्रश्न था। अन्त में द्रव्य के अभाव के कारण ये सिविल सर्विस के लिए वहाँ नही जा सके। जुलाई १९१०, मे ये एल एल० बी० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। उस समय १७ जुलाई के पत्र मे मनु काका को इन्होने नीचे की पंक्तियां लिखी—

"उत्तीर्ण होने का समाचार प्राप्त करते ही मैं कुछ चिन्तित हुआ। सुख या दुःख मैं अकेला सहन नहीं कर सकता। परन्तु अब ठीक है··· कुछ पागल हो गया हूँ और मेरा पागलपन पागल से भी अधिक पागल है।

"किसी स्थान पर मैंने एक कहानी पढी थी जिसमे ब्याह होने से पहले की रात्रि को कन्या का पति खो जाता है। परिणाम-स्वरूप कन्या पागल हो जाती है और पीछे किसी की भी पद ध्वनि सुनकर उसे यह आभास होने लगता है कि मेरा ही पति आ रहा है। वह वर्षों पर्यन्त स्वयं अनन्त मे लय होती रही और उस समय तक राह देखती रही। मेरी स्थिति इस कन्या जैसी ही हो गई है। प्रत्येक डाक मे अभिनंदन और बधाई के पत्रों का बण्डल आता है तब मेरा हृदय अप्राप्य के लिए लालायित होता रहता है। जो अभिनंदन नही आते हैं उन्हे प्राप्त करने की आशा लगी रहती है। जो पत्र कभी नही आता है उसकी राह देखता हूँ, और वह नही आता तो दु.ख मे मग्न हो जाता हूँ। मुझे वेदना-रहित आनंद कभी प्राप्त ही नहीं होता है।

"यह आशाविहीन पागल स्वप्न है। मेरे रोगी मन की मूर्खतापूर्ण कल्पना है। परंतु इसके बिना मैं जी कैसे सकता हूँ ? यह सारी विजय नीरस है, सारा जगत् शून्य है।·······

"कल दक्षिण अफ्रीका के श्री एच० एस० पोलक आये हैं और मेरे यहाँ अतिथि बनकर उतरे हैं। दक्षिण अफ्रीका के सम्बंध में लगभग पंद्रह दिनों के पश्चात् हम एक सभा करेंगे······।"

एल एल० बी० की परीक्षा उत्तीर्ण करने पर बहुत सोच-विचार करने के पश्चात् मुंशीजी ने एडवोकेट परीक्षा देने का निर्णय किया। उस समय एडवोकेट की परीक्षा युवकों को पीस डालने के लिए रखी गई थी। क्या पढ़ना चाहिए,क्या नहीं पढ़ना चाहिए इसकी कोई मर्यादा नही थी। किन विषयों के प्रश्न-पत्र साथ मे आयंगे यह भी निश्चय नहीं था। अङ्कोकी संख्या भी नियत नही थी। परीक्षा में सम्मिलित होने वाले विद्यार्थियो में से एक-दो अत्यंत मेधावी परीक्षार्थियों को ही परीक्षक लोग उत्तीर्ण करते थे। पहले वर्ष मे विरला ही कोई उत्तीर्ण होता था। किंतु मुंशीजी ने भी अपनी तैयारी करने मे कुछ उठा नही रखा। अन्त मे परीक्षा मे सम्मिलित हुए। एक विद्यार्थी ने मुंशीजी से पूछा: "मिस्टर ! क्या पहली बार आये हैं ? अभी जाओ, दो-चार वर्ष ठहर कर आना।"

सन् १९१३ की पहली मार्च को परीक्षा समाप्त हुई। ११ मार्च को पाँच-छः तार आए। मुंशीजी भाग्यशाली निकले। एक ही छलाँग मे इस भयानक परीक्षा-सागर को मुंशीजी हनुमान बनकर लाँघ गए। मुंशीजी एडवोकेट हुए। उनके संशय, नैराश्य तथा घबराहट सबका अवसान हो गया किंतु रातभर नींद नही आई।

एडवोकेटकी परीक्षामे उत्तीर्ण होनेका समाचार प्राप्त होते ही इनकी माता ने हर्ष से उत्फुल्ल होकर मुंशीजी को निम्नाङ्कित पत्र लिखा—

'चिरंजीव कनुभाई,

इस परीक्षा के लिए तुमने तन और मन से जो परिश्रम

किया उसका फल तुझे पहले ही वर्ष मिला, इसके लिए तुझे धन्यवाद है। अब प्रत्येक काम मे तुझे सफलता मिले यह मैं अन्तःकरण से कामना करती हूं।'

इसके अनंतर माता का हृदय हर्षातिरेक से बिना प्रयत्न के ही पद्य के रूप मे उबल पडता है और वे लिखती हैं—

'अंतर आशिष आपना, हरावे उलटे मन,
जननी जठरे ऊपनी सफल कयु जीवन।
कुल दीपक हो दीकरा काला भारा कहान,
विद्या भोग तम भोगवो पामो- जगमां मान।
तन मन धन सुख मां रहो करो परमारथ काम,
यश पामो आ जगत मां धरो सदा चित हाम।
राज काज हाथे धरो मलो आवरु अनन्त,
जोइ ठरे मुज आँखडी भले मींचे लोचन।'

: ६ :

एडवोकेट मुंशी

एडवोकेट की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात् मुंशीजी १९ मार्च सन् १९१३ को प्रातःकाल ११॥ बजे किसी का झब्बा और किसी के बेण्ड्स पहनकर कोर्ट में न्याय मूर्त्ति बीमन के साथ हाथ मिलाकर फूल पक्ष (ओरीजिनल साइड) के एडवोकेटो की पंक्ति मे आये। वहाँ से उठकर जब मुंशीजी अपनी लघुता और अपूर्णता से व्याकुल होकर बैरिस्टरों के बीच मे जाकर बैठे तब उन्हें ऐसा आभास हुआ मानो वे उनके बीच मे अदृश्य हो जायँगे।

शामराव मिनोचहेर और हीरालाल सोलिसिटरो की ओर से उन्हें वहीं पहला अभियोग-सूत्र (ब्रीफ) मिला। सामान्य रीति से नए एडवोकेट को वर्षों तक कदाचित् ही ब्रीफ मिलता हो। मुंशी जी की वृत्ति पर इसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा।

मुंशीजी को जमीयतराम भाई ने अपने कार्यालय के पास वाले सोलिसिटर के कार्यालय में पन्द्रह रुपये प्रतिमास किराये पर एक प्रकोष्ठ दिला दिया। बीजापुर जेल की जिस कोठरी में मुंशीजी सत्याग्रह आन्दोलन के समय रहे थे उससे भी उनका यह प्रकोष्ठ भद्दा था। इस गवाक्षविहीन अंधकारयुक्त छोटे-से खण्ड की ऊपरी छत में एक कांच की छोटी-सी खिड़की थी जिसमें से थोडा-सा प्रकाश छनकर चला आया करता था। पास के खण्ड में और भी कई कार्यालय थे। बरसात के दिनों में उनमें से अनेक जीव-जन्तु मुंशीजी के प्रकोष्ठ में पर्यटन करने चले आते और उनके शरीर मस्तिष्क और भौहो मे इस प्रकार समा जाते कि सारी रात उन्हे खुजलाते बीतती, न आँखों मे नींद आ पाती न मन मे शान्ति। इसीलिए कभी-कभी सोने से पहले वे फिनाइल के पानी से स्नान कर सोया करते।

इसी खोह मे मुंशीजी अपने कठिन वर्षों की विकट तपश्चर्या करते और भूखे भेडिये की भाँति इसीमें से वे अभियोग-सूत्रो की खोज में निकलते। इनकी सबसे बडी कठिनाई अपनी आत्मलघुता की भावना भी थी। अपने चारों ओर मूल्यवान वेशभूषा, चमकदार श्वेत गलपट्टे, सीधे सल वाले पतलून और रेशमी रूमाल देखकर मुंशीजी को अपनी दरिद्रता का अत्यन्त तीव्र अनुभव होता था।

उधर दूसरी कठिनाई अंग्रेज़ी की भी थी। यो मुंशीजी अच्छी अंग्रेज़ी लिखते और आलंकारिक अंग्रेजी मे व्याख्यान देते थे, किन्तु बड़ौदा कालेज मे अंग्रेजीमें बोलनेका अभ्यास न होनेके कारण साधारण अंग्रेज़ी मे बातचीत करना इनके लिए बडा कठिन था। इनका उच्चारण भी अशुद्ध था और लोक सामान्य वाक्य तो उनके मुख से निकल ही नही सकते थे।

मुंशीजी को अपनी भाषण-शक्ति का यह अभाव निरन्तर खटकने लगा। इसलिए ये तलियारखान,जिन्ना और स्ट्रेंङ्गमैन जैसे बैरिस्टरों के पीछे खड़े रहकर उनके अंग्रेजी उच्चारण को विशेष ध्यान से अध्य-

थन करने लगे । वहाँ से लौटकर आते तो घर बैठकर उच्च स्वर से नाटको के सम्वाद पढते और इधर-उधर से छोटे-मोटे चुटकुले एकत्र करके लिखकर कण्ठस्थ कर लेते और यदा-कदा उन्हे उलट फेरकर अपने मित्रों के आगे उनका प्रयोग करते ।

जैसे पहले अवकाश के दिनों मे मुंशीजी नाटक पढा करते थे वैसे ही इन दिनों ये दर्पण के सामने खडे रहकर प्रिवी काउन्सिल के निर्णय पढ़ते और पुस्तक बन्द करके उसका सारांश शुद्ध उच्चारण के साथ कहा करते । फिर भी उच्चारण मे बहुत दिनों तक बराबर भूले होती ही रहीं ।

छः वर्ष पीछे एक बार मुंशीजी अपने कुछ मित्रो के साथ दार्जिलिंग जा रहे थे । मार्ग मे इन्होंने अंग्रेजी के जूस (Juice) शब्द का बडोदिया उच्चारण 'जुइस' कर दिया । भूलाभाई साथ थे, वे हँस दिए, और मुंशीजी के समान ही 'जुइस' कहकर एक तीसरे मित्र को ओर आँख मारी । मुंशीजी भांप गए कि मुझसे उच्चारण में भूल हो गई है । रात्रि को इन्होने अंग्रेजी शब्द कोष मे देखा तो उसका उच्चारण था 'जूस' । इस बात की कसक बहुत दिनो तक उनके मन में बैठी रही ।

अंगरेज़ी भाषा हमारी पराधीनताकी सबसे कठिन बेडी है । यह दुर्भाग्य की ही बात है कि अपने देशमें भी हमे विदेशी भाषा के सम्यक् ज्ञान के बिना प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती है, और इस बेडी का भार सम्मानपूर्वक वहन करने के लिए मुंशीजी ने अपने जीवन के श्रेष्ठतम वर्ष व्यतीत किये हैं । इससे इनको बहुत बडा लाभ यह हुआ कि विदेशी भाषा का अभ्यास करते हुए ये शैली और साहित्य रचना के तथा वाक्पटुता और वार्तालाप के कुछ सनातन रहस्यो को समझ सके और जगत् के साहित्य महारथियो का परिचय पा सके ।

मुंशीजी बचपन से नियमित रूप से डायरी लिखते थे । सन् १९१४ के पश्चात् इन्होंने नियमित रूप से डायरी लिखने का अभ्यास

छोड़ दिया परन्तु जब कभी कोई मुख्य घटना होती या ये स्वयं कोई महत्वपूर्ण संकल्प करते तो उसे अवश्य अङ्कित कर लेते। अंग्रेजी में भाषण करने की रीति अत्यन्त कृत्रिम थी। जब भाषण करना होता तब ये अंग्रेजी में कुछ सारांश वाक्य लिख लेते, उसे कई बार उच्च स्वर से पढ लेते और फिर भाषण करते समय उन वाक्यों को अपने वक्तव्य में अत्यन्त शुद्ध रूप से अपना लेते। कभी-कभी तो पूरा-का-पूरा भाषण ही रटकर सभा मे बोलते।

सन् १९१२–१३ मे यूनियन में भवभूति पर वाद्विवाद हुआ। उसमे बोलने के लिए इन्होने जो भाषण तैयार किया था उसका सार भी लिख लिया था जिसे देखकर मुंशीजी की उस समय की शैली का कुछ परिचय प्राप्त हो सकता है—

"सज्जनों!

प्राचीन काल से ही त्रासद को ही काव्य का सर्वोत्कृष्ट क्षेत्र माना गया है। यह वास्तव मे संस्कार, उदात्तभाव तथा अभिव्यक्ति का काव्य है। मानवीय वासनाओं को त्रासद के समान दूसरा क्षेत्र नही मिल सकता, मानवीय भावो को दूसरी रङ्गस्थली नही मिल सकती और मानवीय भाषा को दूसरा अभिव्यञ्जनापथ नही मिल सकता।

"साहित्य का प्रारम्भ होता है महाकाव्य से, और अन्त होता है त्रासद से। उन्मीलित आँखों वाला आश्चर्य तथा असंस्कृत युग की शक्ति और दाहकता कवि के भावो की कोमल और उत्कृष्ट अभिव्यक्ति को स्थान दे देती है। होमर का अन्त हुआ एडरीपीदेस् दाँते और मिल्टन का हुआ गेटे और ह्यूगो मे। व्यास और बाल्मीकि की सशक्त भव्यता ने अपना अवसान पाया भवभूति की मधुर और भावमयी कविता मे।

"हमें देखना है कि हमारा कवि वाग्देवी के दिव्य पुत्रो में कहाँ मिलता है। त्रासद का विकास सर्वप्रथम यूनान ने किया और आप देखेंगे कि उसके दो पुत्रो ने अपनी महत्ता सब युगो मे बनाये रखी,

वे थे ऐस्कुलस और एडरीपिदेस्। तब आये भवभूति। पन्द्रहवी शताब्दी ने शेक्सपियर के भव्य नाटक देखे।

"उन्नीसवी शताब्दी ने दो प्रतिभाशाली कवियों का उदय देखा—एक गेटे, जो सार्वभौम श्रेणी का था और वर्तमान सभ्यता का भविष्य-वक्ता था, दूसरा था विक्टर ह्यूगो, जो स्वतन्त्रता और प्रेम का भेरी-घोष करने वाला देवदूत था"…इत्यादि।

इसके पश्चात् इन्होने नवीन पद्धति प्रारंभ की और निम्नलिखित भाषण-सूत्र लिखकर सामने रख लिये—

१—सरल भाषा का अभ्यास करना, सदैव सरल शब्द का प्रयोग करना।

२—छोटे वाक्यों का प्रयोग करना।

३—उच्चारण शुद्ध करना।

४—अपने प्रमाणो को सत्यता की कसौटी पर कस लेना, विपक्षी द्वारा दोष निकाले जाने की प्रतीक्षा न करना।

५—विषय को इस प्रकार उपस्थित करना कि उसमे निमग्न हो जायं। इस प्रकार सिद्ध की हुई तन्मयता के द्वारा प्रेरित शब्दावली का ही प्रयोग करना चाहिए, शब्दो की पहले से तैयारी नहीं करनी चाहिए।

६—श्रोता का हृदय जीतने के लिए बोलने की शैली साधने की अपेक्षा उसे पराजित करने की कला पर अधिक ध्यान देना चाहिए।

७—श्रोता को थकने नहीं देना चाहिए और या तो उसके थकने से पहले ही बोलना बन्द कर देना चाहिए या उसकी रुचि के अनुकूल रसप्रद सामग्री उपस्थित करते रहना चाहिए।

मुंशीजी ने सन् १९१७-१८ तक तो इन सूत्रो का पालन किया किन्तु पुराना अभ्यास इतना जमकर बैठ गया था कि वह पूर्णत. छूट नही पाया। इसलिए यह नई रीति पूर्णरूप से आत्मसात् नहीं की जा सकी।

१२ जून सन् १९२३ की संध्या को जमीयतराम भाई मुंशीजी को

हाईकोर्ट के तीसरे खण्ड पर भूलाभाई के प्रकोष्ठ में ले गए और उनसे मुंशीजी का परिचय कराया। मन्दस्मित से भूलाभाई ने इनका अभिनन्दन किया। उस समय मुंशीजी की मनोदशा उसी बालक की-सी हुई जिसे कोई गुरु के पास पढ़ने छोड़ आया हो।

उनके चले जाने पर भूलाभाई ने इनसे कहा, "देखो, लाउंड्स ने मुझसे जो पहले दिन कहा था वही मैं तुमसे कहता हूँ : यदि तुम मेरे लिए उपयोगी सिद्ध होगे तो मैं तुम्हारे लिए उपयोगी सिद्ध होऊँगा, और देखो, तुम साढे छः बजे आना। विचार-विनिमय के समय तीसरे का होना सोलिसिटरों को अच्छा नहीं लगता। इसलिए जब ये लोग चले जायं तब मुझसे मिलना। जाओ, कल आना।"

उसी दिन से मुंशीजी के जीवन की कठिन तपश्चर्या प्रारम्भ हुई। ये प्रातःकाल दस बजे घर से निकलते, दिनभर हाईकोर्ट के पुस्तकालय में पढ़ते, कोर्ट उठने के पश्चात् अपने प्रकोष्ठ में बैठते और साढे छः बजे भूलाभाई के प्रकोष्ठ के द्वार पर उपस्थित हो जाते। भूलाभाई का विचार-विनिमय सात-आठ बजे तक चलता रहता और कभी कभी तो उनकी गाडी आठ बजे उन्हें लेने आती। पर ये तब तक रुके रहते। फिर मुंशीजी प्रकोष्ठ में जाते, एक-दो निर्जीव प्रश्न पूछकर उनका ध्यान आकृष्ट करने का निष्फल प्रयत्न करते। वे टोप हाथ में लेते और कहते : "अच्छा मुंशी! तो कल आना, कुछ दूँगा।"

कुछ दिनों के पश्चात् भूलाभाई ने अभियोग-आवेदन (अरज़ी-दावे) का उत्तर तैयार करने के लिए मुंशीजी को एक ब्रीफ (सूत्र) दिया। मुंशीजी ने तो उत्तर की रचना अपनी आडम्बरपूर्ण अङ्गरेजी में लिख डाली। तीसरे दिन भूलाभाई ने कहा : "यह अंगरेज़ी यहाँ नहीं चलेगी।" हताश होकर मुंशीजी ने देखा कि पन्द्रह घंटे के परिश्रम से तैयार किया हुआ उनका उत्तर अन्त में रद्दी की टोकरी में विश्राम ले रहा है।

अन्त में मुंशीजी ने अपनी रीति से तैयारी करनी प्रारम्भ की।

इन्होने बडे-बडे बैरिस्टरो से और भूलाभाई से प्राप्त किये हुए प्राचीन लेख एकत्र किए, उनकी प्रतिलिपि की और उनकी भाषा का अनुकरण करना प्रारम्भ किया। कौनसी शिकायत कैसे शब्दों में की हुई है इसकी सूची बनाई और श्री भूलाभाईके लिए बार-बार अभियोग-लेख लिखकर तैयार करने प्रारम्भ किए। इस परिश्रममे इनको तीन अद्वितीय पुस्तको से बहुत सहायता मिली। पीछे मुंशीजी ने ऐसा नियम कर लिया कि जिस विषय के सम्बन्ध मे कुछ लिखना होता उसके विषय मे इन पुस्तको मे से पढ लेते, उस पर टिप्पणी करते और पीछे अभियोग-लेख तैयार करने का काम हाथ मे लेते।

उन दिनो हाईकोर्ट के क्षितिज पर भूलाभाई नवोदित सूर्य के समान चमकते थे। बडे-बडे बैरिस्टर उनसे ईर्ष्या करते थे। गुजराती सोलिसिटर तो इनके अतिरिक्त किसी को कुछ समझते नही थे। पारसियो मे ये पारसी शाही बन गए थे। न्यायाधीश भी इनकी मधुर तर्क शैली पर मुग्ध थे।

उस समय सर बेसिल स्कॉट मुख्य न्यायाधीश थे। आठ जुलाई को थाणा-कोर्टकी एक अपीलमे मुंशीजी पहली बार उनके कोर्टमे उपस्थित हुए। उसके लिए उन्होने बहुत दिनो से तैयारी की थी, कितने ही सूत्र बना-बनाकर फाड डाले थे। पिछली रात्रि को इन्हे घबराहट के मारे नींद तक नही आई थी। मुंशीजी जब कोर्ट में जाकर खडे हुए तब उन्हे प्रतीत हुआ कि इनके सामने एडवोकेट जनरल स्ट्रैङ्गमैन खडे है।

मुंशीजी अपील उपस्थित करने के लिए खडे हुए तब उनकी आँख के आगे न्यायालय गोलाकार होकर चक्कर लगाने लगा। गले से स्वर निकलना बन्द हो गया। कानो में घनघन-घनघन घण्टा सुनाई देने लगा। पन्द्रह-बीस मिनट पर इनकी बोली खुली और ये बराबर बोलने लगे।

इन्होंने कुछ अशुद्ध कहा होगा, इस पर टोककर स्ट्रैङ्गमैन बीच मे ही कुछ बोल उठे। स्कौट ने कडाई से स्ट्रैङ्गमैन की ओर देखा और

बोले : "एडवोकेट जनरल महोदय ! आपकी भी बारी आने वाली है।"

न्यायाधीश ने निर्णयात्मक ध्वनि से स्ट्रैङ्गमैन को वाग्धारा काट डाली। वे कुछ अकुलाकर आधा ही वाक्य छोड़कर बैठ गए।

"श्री मुन्शी, अब आप कहते चलिए।" स्कॉट ने विधि-वाक्य उच्चारण किया और टिप्पणी लेना प्रारम्भ किया।

मुन्शीजी के पैरों मे बल आया और उन्होने आगे बोलना प्रारम्भ किया। स्ट्रैङ्गमैन ने फिर टोकने का साहस नहीं किया।

स्कॉट के साथ में न्यायाधीश बेचलर थे। वे बहुत मितभाषी थे। मुंशीजी ने अपने तर्क देते समय कहीं यह कह दिया : "इसके लिए प्रायः कोई प्रमाण नहीं है'" बेचलर ने तुरन्त रोककर कहा : "साक्ष्य में प्रायः नहीं होता, या तो प्रमाण होता है या नहीं होता।"

मुन्शीजी की इस अनिश्चित बोलने की रीति को इससे बड़ी चपत लगी। वक्तव्य समाप्त करने से पहले मुन्शीजी ने साहस के साथ कहा—

"महोदय ! आपके सम्मुख उपस्थित होने का यह मेरा प्रथम अवसर है। अपना पहला तर्क उपस्थित करते समय मै घबरा गया था, यदि आज्ञा हो तो मैं उसे फिर से कह डालूँ।"

स्कॉट ने अपने शान्त और शुद्ध उच्चारण के साथ कहा—"हाँ कह सकते हो।"

थोड़े दिनों के पश्चात् लाइब्रेरी मे मुंशीजी से सर जमशेदजी मिले और पूछा कि आपने कुछ दिन पहले स्कॉट के आगे क्या कोई अपील रखी थी ? मुंशीजी ने स्वीकृति से सिर हिलाया। उन्होंने कहा— "स्कॉट आपको बहुत मानते हैं। कल क्लब मे उन्होने मुझसे बात की। लॉ कॉलेज में प्रोफ़ेसरों की नियुक्ति के प्रश्न के सम्बन्ध मे आपको स्मरण कर रहे थे। परन्तु, आप बिलकुल नये है।"

यह सुनकर मुंशीजी प्रसन्नता के मारे उछल पडे और संध्या को जब भूलाभ के चेम्बर में गये तब अपने गुरु को अपने हर्ष का सम-

भागी बनाने के लिए बेचैन हो उठे। अवसर देखकर मुंशीजी ने भूलाभाई को सारी घटना कह सुनाई। भूलाभाई अन्यमस्क होकर सुनते रहे और अपनी ओर से इतना ही कहा—"अरे ये लोग यों ही बका करते हैं।" मुंशीजी का चढ़ता हुआ अभिमान-ज्वर तत्काल ठंडा पड़ गया।

भूलाभाई के संसर्ग मे मुंशीजी ने बहुत सीखा और बहुतोंके परिचय में आए। वास्तविक बम्बई और उसके जीवन के कितने ही स्वरूपों का ज्ञान मुन्शीजी को भूलाभाई के परिचय में आए बिना कदापि न प्राप्त होता।

सन् १९१७ के मई मास में भूलाभाई और इच्छा बहन मुंशीजी को दार्जिलिङ्ग ले गए। रास्तेमे ये कलकत्ते उतरे और वहाँ श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के दर्शन कर आए।

उस समय दार्जिलिग में सर जगदीशचन्द्र बोस ने इन सबको चाय पीने के लिए आमन्त्रित किया और हिन्द के अग्रगण्य वैज्ञानिक के अनुकूल श्रद्धाभाव के साथ ये लोग उनके स्थान पर गये। श्रीमती बोस ने इनका स्वागत किया। अन्य लोगों के साथ इन्हे भी बैठाया। इसके पश्चात् बीच के द्वार खुले। बिरजिस पहने हुए नेपोलियन की अल्प अनुकृति के समान सर जगदीश निकले और सबसे मिले।

वे इनको अपनी प्रयोगशाला दिखाने के लिए ले गए। वहाँ इनके पट्ट शिष्य बोशीसेन ने भूलाभाई तथा मुन्शीजी आदि को सूक्ष्मदर्शक यन्त्रो से यह दिखलाया कि किस प्रकार वृक्ष भी मनुष्यो के ही समान हँसते, रोते और मदिरा पीकर झूमते हैं।

सर जगदीश इन सबको एक वृक्ष के पास ले गए जिसके नीचे एक चौतरा था। उसे दिखाते हुए वे बोले: "इसी वृक्ष के नीचे बैठकर ऋषियों की विश्व-बन्धुत्व की भावना का स्मरण करते-करते मुझे सत्य का भान हुआ और यह शोध करने का मार्ग मिला।"

: ७ :

कर्म-सिद्धि की खोज में

अपने गुरु श्री अरविन्द घोष के सम्पर्क में रहने के कारण इनके मन में योग की ओर कुछ आकर्षण हुआ और, सन् १९१२ से १९१४ तक इन्होंने यथासम्भव योगाभ्यास करने का प्रयत्न किया। वे नियमित रूप से ध्यान लगाकर बैठने लगे। पहले युद्ध का चित्र सामने रखते और चलते-फिरते इस ध्येय को दृष्टि के सामने लाने का प्रयत्न करते, योगसूत्र का प्रतिदिन पाठ करते, ॐकार की जप भी करते और नाटक करने का उपक्रम भी करते। किन्तु कोर्ट का काम-काज,उपन्यास लिखनेका मानसिक श्रम तथा अन्य प्रवृत्तियों के कारण इस योगाभ्यास का क्रम न चल पाया। योगी को शान्त, निश्चिन्त और संयत होना चाहिए। वह परिस्थिति मुंशीजी को नहीं मिल पाई। परिणाम यह हुआ कि इनका सिर दुखने लगा और रात्रि की निद्रा भी भागने लगी। इन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं विपरीत दिशा की ओर जा रहा हूं। अन्त मे हारकर इन्होंने श्री अरविन्द घोषको पत्र लिखा—"यदि मेरे भाग्य मे कर्मसिद्धि लिखी हो तो उत्तर दीजियेगा। उत्तर न मिलने पर मै समझ लूंगा कि मेरे भाग्य में कर्मसिद्धि नहीं लिखी है।" प्रत्युत्तर की एक महीने तक प्रतीक्षा की। प्रत्युत्तर न पाने पर इन्होंने इस आकांक्षा को तिलाञ्जलि दे दी।

अन्त मे इन्होंने सब कुछ छोडकर 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' का जप करना प्रारम्भ किया। और इस प्रकार उन्होंने अपना अभ्युदय सिद्ध करना प्रारम्भ किया। निस्त्रैगुण्य का शास्त्रीय अर्थ छोडकर मुंशीजी ने यह अर्थ लगाया कि सत्व, रजस् और तमस्—शान्त, प्रवृत्तिमय और शैथिल्यमय—ऐसे तीन गुणों में से प्रसङ्गानुसार व्यक्त करने योग्य गुणो को जानने वाला और उस गुण के अनुसार आचरण करने वाला व्यक्ति ही निस्त्रैगुण्य है। इसी व्याख्या के अनुसार इन्होने अपने निस्त्रैगुण्य बनने की एक योजना बना ली।

इन्होंने अपनी निस्त्रैगुण्यता की सिद्धि के लिए जो कार्यक्रम बनाया था उसका सारांश नीचे दिया जाता है।

१. निस्त्रैगुण्य—व्यवसायात्मिका बुद्धि और निष्काम कर्म।

२ व्यवसायात्मिका बुद्धि का विकास करने के लिए ज्ञान, अभ्यास और तितिक्षा चाहिए। उसे प्राप्त करने के लिए निस्त्रैगुण्य पुरुषके ध्येय के छः अङ्ग हैं: (१) देही (२) कुटुम्बी (३) कर्मचारी (४) साहित्यकार (५) धाराशास्त्री (६) राष्ट्र सेवक।

वर्ष का अभ्यास—दैनिक स्वाध्याय—गीता और योगसूत्र।

(१) देही

अ—शक्ति च (२०) मण्टेक्रिस्टो (१००)

(१) डंबल (२) दंड ५० (३) बिलियर्ड्स, २५ ब्रेक

[स्वाध्याय—फूट्स कोर्स]

आ—शोभा

(१) चलने की रीति (२) शरीर की शोभा

[स्वाध्याय—व्यक्तित्व का विकास]

इ—६२० = प्राणायाम

(२) कुटुम्बी

स्नेह, च (२०) ऑब्रे ले(१००)

(३) कर्मचारी

अ—शिष्टाचार च (२०) मौटेक्रिस्टो (१००)

(१) विनय (२) शोभा (३) निस्सकोचता (४) मृदुता (५) गौरव

[स्वाध्याय—लोकप्रियता—इमर्सन, शिष्टाचार—चेस्टरफील्ड:लेटर्स]

आ—प्रगल्भता च (२०) मिराबो (१००) साहस

[स्वाध्याय—कार्लाइल, मिराबो, दाँते, इमर्सन, आत्मनिर्भरता]

(२) हलकापन

[स्वाध्याय—मार्क ट्वेन : इनोसेंट्स एब्रोड]

(३) प्रभावोत्पादकता

शान्ति च (२०) मोण्टेक्रिस्टो (१००)

(४) मनः स्थैर्य

[स्वाध्याय—गॉर्डन : पावर ऑफ़ पर्सनैलिटी]

(५) नियमितता　　बेसेंट (१००)

[स्वाध्याय—टॉड: स्टूडेंट्स मैन्वल]

ई—इच्छाशक्ति च (४०) नेपोलियन (१००)

(१) कार्य-साधिका शक्ति

(२) अप्रमाद

[स्वाध्याय—प्लुटार्क, सीज़र, फौस्टर : डिसीज़न ऑफ़ कैरेक्टर]

उ—शैली　　जौन मिल (१००)

(१) बुद्धित्व　　रानाडे (४०)

[स्वाध्याय—मिलः रिप्रज़ैंटेटिव गवर्नमेण्ट]

(२) भाव प्रधानता विक्टर ह्यूगो (१००)

[स्वाध्याय
- मिचेलेट : फ्रैंच रिवोल्यूशन
- ह्यूगो : लिरिक्स
- कलापी का केकारव

(३) वर्णनात्मकता　　ड्यूमा (१००)

[स्वाध्याय—वाशिंगटन इर्विङ्ग : स्केचबुक इब्सनः सरस्वती चन्द्र भा

ऊ—वाक्पटुता च (३०) बेसेंट (१००)

(१) स्वर (२) भाषा (३) पद्धति

[स्वाध्याय—मुंह से बोलने के लिए

मूर : इण्डियन अपील्स

बाम्बे लॉ रिपोर्टर

हाऊ टु आरग्यु ऐंड टु विन]

वार्तालाप ह (३०) मांटेकिस्टो (१००)

(१) समझाने की कला (२) रंजन करने की कला

(४) साहित्यकार

(१) वाचन : कार्लाइल—मिसलैनी
मिचेलेट—फ्रैंच रिवोल्यूशन
सरस्वती चन्द्र—द्वितीय भाग
गुलाबसिंह—हिन्दी की दो पुस्तकें

(२) लेखनः ३ अंग्रेजी लेख, ३ गुजराती लेख, ३ गुजराती कहानियां;
२ अंग्रेजी कहानियाँ, १ गुजराती उपन्यास, १२ व्याख्यान,
'भार्गव त्रैमासिक'

(५) धारा शास्त्री

(१) खरडे तैयार करना : ह (४०) इन्वेराइटी (१००)
[स्वाध्याय—ओडगर : प्लीडिंग्स

(२) कायदे का ज्ञान : डा० घोष (१००)
[स्वाध्याय—रौस्को : निसी प्रिस

(३) वकालत करने की कला ह (४०) लाउण्डस (१००)
[स्वाध्याय—हैरिस ऐडवोकेसी

(६) राष्ट्र सेवक

(१) लेखक (२) वक्ता बेसेन्ट (१००)

इस प्रकार १६१४ से १६१७ तक प्रति वर्ष मुंशीजी कार्यक्रम बनाते थे। आठ-दस दिन तक ये अपने को अङ्क देते थे और अल्प अङ्क पाने पर ये अपनी डायरी में लिखते थे।

परन्तु वस्तुतः देखने पर इनका क्रम 'कर्मसु कौशलम्' प्राप्त करने का था। परन्तु कौशल प्राप्त करने की इस रीति मे वे सफल नहीं हो सके। किसी समय तो कुल १७०० अङ्कों में से १०० या ३०० अङ्क ही प्राप्त कर सके।

: ८ :

विदेश-यात्रा

मुंशीजी जब विद्यार्थी अवस्था में थे तभी से इनकी यूरोप जाने की तीव्र इच्छा थी। द्रव्य के अभाव में तथा पारिवारिक स्थिति उपयुक्त न होने से वे उस समय इस इच्छा को कार्य रूप में परिणत नहीं कर सके। अन्त मे सन् १९२३ मे मुंशीजी ने अपनी धर्मपत्नी श्रीमती अतिलक्ष्मी के साथ यूरोप के लिए प्रस्थान किया। सर्वप्रथम् इन्होंने नेपल्स देखा। फिर वहाँ से कौमोल्यूसर्न, मौण्टे कार्लो का निरीक्षण किया। किन्तु नेपल्स के अखात को देखकर इनको जो मानसिक उल्लास उत्पन्न हुआ उसका अनुभव इन्हे फिर कभी नहीं हुआ।

नेपल्स यूरोप मे अत्यन्त रमणीय स्थान है। सभी यात्री एक स्वर से कहते हैं कि समुद्र से देखने पर 'नेपल्स और उसके अखात का दृश्य ऐसी अप्रतिम रमणीयता से परिपूर्ण दृष्टिगोचर होता है कि कलम या तूलिका द्वारा भी उसका सच्चा चित्र अङ्कित नहीं किया जा सकता। मुंशीजी जहाँ जाते वहीं राजपथों पर सुविख्यात कलाकारों की कला कृतिया दिखाई देती। निर्जीव दिखाई देने वाली बहुत-सी गलियों में भव्य मन्दिरों के दर्शन करते और उनके भीतर प्रविष्ट करके अकल्प्य सौंदर्य से मण्डित चित्रो का दर्शन करके अपने नेत्र शीतल करते। नेपल्स मे इन्होंने इटली की कला-समृद्धि देखी और अन्त मे पैरिस और लंदन के आश्चर्य-गृह देखे।

नेपल्स के आश्चर्य-गृह के मुख्य तीन भाग हैं : एक जुगुप्सा जनक पौम्पीआई की अवशिष्ट वस्तुओ का, जो सामान्यतः बन्द रहता है और जिसमें विशेषतः पुरुषो को ही जाने की अनुमति है। दूसरा रोमन सम्राटो का विभाग है जिसमे जूलियस सीज़र और अन्य अनेक सम्राटो की अर्द्ध मूर्तियाँ है। तीसरे विभाग मे यूनान के शिल्प के नमूने देखकर उत्साह और प्रशंसा के कम्प से प्रत्येक व्यक्ति रोमांच का अनुभव करने लगता है।

नेपल्स में, रोम में, फ्लोरेंस में, पेरिस मे तथा लंदन में इन यूनानी शिल्प स्वामियों की कृतियाँ इतस्ततः बिखरी हुई पड़ी हैं।

मुंशीजी ने वहाँ मन्दिर देखे। इनमेसे 'डुओमो' 'चेपल आफ फार्डिनेण्डो' और 'सेन फ्रांसिस्को द पाओला' इन्हें अधिक आकर्षक प्रतीत हुए। इन्होंने यूरोप के महान् देवालयों के वातावरण का अनुभव प्रथम बार किया। देवालय का यह वातावरण उसकी ऊँचाई, लम्बाई और भीतर आने वाले प्रकाश से जाना जाता है। अपनी विशालता का ध्यान हटाकर देखने वालेको अल्पताका ध्यान कराकर जंगलकी झाँकी दिखलाते हुए पूज्य भाव प्रेरित करने की उत्कण्ठा उसमें दिखाई देती है। सागर और व्योम के एकांत मे ही पूज्य भाव अनुभव करने वाले मुंशीजी, पत्थर और रंगीन दर्पण में से आने वाले प्रकाश में पूज्य भाव का अनुभव नहीं कर सके। मुंशीजी ने अपनी यूरोप यात्रा का सम्पूर्ण अनुभव गुजराती में 'मारी-बिन जवाबदार कहानी, मे लिखा है। अपनी जिज्ञासा शान्त करने के लिए पाठकों को वह ग्रन्थ अवश्य देखना चाहिए।

: ६ :

श्रीमती अतिलक्ष्मी का वियोग और लोकसेवा

यूरोप के प्रवास से लौटने के पश्चात् थोडे ही दिनो मे मुंशीजी को अपना सर्वस्व समर्पण करने वाली, उनके दुःख-सुख में ही अपना दुःख-सुख अनुभव करने वाली, अपनी सेवा, त्याग-भावना एवं तपस्या से मुन्शीजी को सतत बल प्रदान करने वाली आदर्शमयी धर्मपत्नी श्रीमती अतिलक्ष्मी का सन् १९२४ में देहावसान हो गया। इसी वर्ष इन्होने अपना सामाजिक उपन्यास स्वप्नद्रष्टा प्रकाशित किया। यह उपन्यास इनके जीवन से सम्बन्ध रखता है। इसमें अधिकतर औपन्यासिक ढग से वंगभंग का वर्णन, बडौदा कालेज में अध्ययन करते समय इनके अनुभवो का वर्णन तथा सन् १९०७ की सूरत कांग्रेस का कलात्मक वर्णन है जिसमे ये दर्शक के रूप में सम्मिलित हुए थे।

यूरोप जाने के पूर्व इन्होंने गुर्जर सभा का पुनरुद्धार किया था। उसीका परिष्कृत नाम सर्व सम्मति से 'गुजरात साहित्य परिषद्' रखा गया। गुजराती साहित्य की अभिवृद्धि और गुजरात के गौरव की महती भावना लेकर ये इस कार्य मे एकाग्रमन होकर लग गए। तबसे आजतक इन्होंने सभापति के पद से गुजराती साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले प्रत्येक विभाग की अभिवृद्धि की है। इसी वर्ष ये पंचगनी में होने वाली शिक्षा-समिति के सभापति सर्व सम्मति से चुने गए और हरकिसनदास नरोत्तमदास हास्पिटल के अध्यक्ष चुने गए जिसका अध्यक्षपद आप अभी तक पूर्ण योग्यता से सँभाल रहे हैं। इस जनाकीर्ण विशाल नगरी मे केवल हरकिसनदास हास्पिटल ही ऐसा चिकित्सालय है जहाँ संलग्नता तथा सेवाभाव से रुग्णों की शुश्रूषा एवं चिकित्सा की जाती है। सुव्यवस्था का सम्पूर्ण श्रेय केवल मुंशीजी को ही है।

सन् १६२६ में मुंशीजी रजिस्टर्ड ग्रेजुएटो की ओर से निर्वाचित होकर बम्बई विश्व-विद्यालय की सेनेट मे प्रविष्ट हुए और थोडे ही दिनों में इन्होने सिण्डिकेट में भी स्थान पा लिया। विश्व-विद्यालय में जाकर इन्होने यूनिवर्सिटी के लगभग सभी विषयो में सक्रिय रस लिया है। गुजराती तथा प्रान्त की इतर भाषाओ को यूनिवर्सिटी के अभ्यास क्रम मे योग्य स्थान दिलाने के लिए इन्होने जो परिश्रम और प्रचारकार्य किया वह लोक-विदित है। गुजरात के लिए अलग यूनिवर्सिटी बनाने के लिए भी इन्होंने ही सर्वप्रथम पुष्कल प्रयत्न किया था। आज सारा गुजरात सहर्ष इनकी योजना को अपनाकर इस कार्य में लगा हुआ है। उसकी रूपरेखा भी तय्यार हो चुकी है। केन्द्रीय धारा-सभा के अध्यक्ष श्री मावलणकरने भी मुंशीजी की इस योजनाको अपना लिया है और आज अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ इसीके पीछे लगे हुए हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि थोड़े ही दिनो मे मुंशीजी के इस प्रयत्न की सिद्धि हमें दिखाई देने लगे।

सन् १६२६ में ही श्रीमती लीलावती के साथ इनका पुनर्लग्न

श्री होगया और साहित्य-जगत् की एकांत आत्मीयता परिणय सूत्र में गुँथकर अधिक सबल और दृढ होगई है।

: १० :

राष्ट्र-सेवक

अपने साहित्यिक और व्यावसायिक जीवन के बीच-बीच मुंशीजी "भार्गव त्रैमासिक' और 'आर्य प्रकाश' मे लेख लिखते रहे। परन्तु इससे उन्हे पूर्ण सन्तोष नहीं हुआ। इसी बीच सन् १९१४ मे जर्मन महायुद्ध प्रारम्भ होगया। हृदय में उमडती हुई राष्ट्रीयता को व्यक्त करने के लिए सन् १९१५ मे इन्दुलाल और मुंशीजी ने 'सत्य' नामक मासिक पत्रिका हाथ में ली और इन्दुलाल के सम्पादकत्व में जुलाई मे 'नवजीवन' और 'सत्य'का प्रकाश प्रारम्भ होगया जिसकी आर्थिक सहायता पीछेसे शङ्करलाल बैङ्कर करने लगे थे। इसके पहले ही अंकमे मुंशीजी ने लिखा—'जीवित राष्ट्र का जीवन और साहित्य वीर्यवान होता है और समय के महाप्रश्नों का समाधान करने के लिए कला को शस्त्र बनाकर निश्चयात्मक बुद्धि से आगे बढ़ता है।

उस समय श्रीमती बेसेन्ट और सर विलियम वेडरबर्न आदि हिंद के मित्रो की मन्त्रणा हुई और इन सबको ऐसा लगा कि महायुद्ध का प्रसङ्ग देखते हुए यदि छोटे-छोटे सुधार कराने के बदले भारत 'होमरूल' (स्व-शासन) माँगे तो मिल जाय। इस संकल्प का प्रचार करने के लिए श्री-मती बेसेन्ट ने १९१४ की जनवरी में "कॉमन विल' (सबकी इच्छा) नाम का पत्र निकाला और छः महीने के पश्चात् 'न्यू इण्डिया' (नया-भारत) प्रारम्भ कर दिया। श्रीमती बेसेन्ट ने अपने थियोसोफ़ीय अनु-गामियों को होमरूल का आन्दोलन करने के लिए लिखा और अगले सितम्बर में एम्पायर थियेटर में 'युद्ध के पश्चात् हिन्द' विषय पर व्या-ख्यान देकर आंदोलन छेड दिया।

यों तो श्रीमती बेसेन्ट का भाषण मुंशीजी ने बहुत बार सुना था,

परन्तु यह व्याख्यान वाक्पुटता की दृष्टि से—अर्थात् वाग्वैभव,उच्चारण, भावना, ओज, छटा, तथा प्राभावोत्पादकता—इन सबकी दृष्टि से ऐसा अपूर्व था कि मुँशीजी को यह विश्वास होगया कि श्रीमती बेसेन्ट को जो जगत् का सर्वोपरी वक्ता कहा जाता है, वह अकारण नहीं है। श्रीमती बेसेन्ट के इस आन्दोलन को श्री दादाभाई नौरोजी का भी समर्थन प्राप्त होगया और आन्दोलन धीरे धीरे शक्ति पकड़ने लगा।

इसके पश्चात्, जमनादास, शङ्करलाल, इन्दुलाल और मुंशीजी इन चारों ने मिलकर निश्चय किया कि अंग्रेज़ी में एक साप्ताहिक निकाला जाय और उसके सम्पादन का भार पड़ा मुंशीजी तथा द्वारकादास के कंधों पर।

सितम्बर के अन्त में मुंशीजी और जमनादास पेडर रोड पर नरोत्तम सेठ के बंगले मे श्रीमती बेसेन्ट की सम्मति लेने गये। उन्होंने विस्तार से इन्हे समझाया कि सम्पादक के रूप में क्या-क्या करना उचित होगा। वहाँ से ये लोग माननीय श्रीनिवास शास्त्री का आशीर्वाद लेने गये। शास्त्रीजी ने भी इनके प्रयत्न का स्वागत किया तथा इन्हें पूर्ण सहयोग दिया। महर्षि दादाभाई ने भी आशीर्वाद भेजे और १९१५ के नवम्बर की १७वीं तारीख को इन्होंने "यंग इण्डिया" आरम्भ कर दिया तथा साथ ही होमरूल लीग मे सम्मिलित होकर उसके प्रतिभाशाली और प्रभावशाली सदस्य बने।

१९१६ की पहली अगस्त को कांग्रेस द्वारा दी हुई चुनौती की नौ महीने की अवधि समाप्त हुई और लोकमान्य तिलक ने इण्डियन होमरूल लीग स्थापित कर दी। सितम्बर मे श्रीमती बेसेन्ट ने मद्रास में "आल इण्डिया होमरूल लीग' स्थापित की। थोड़े ही दिनों मे जमनादास, पी० के० तैलङ्ग और रतनशी सेठ ने चायना बाग मे मुंशीजी के साथ कितने ही प्रतिष्ठित व्यक्तियों को एकत्र किया और "आल इण्डिया होमरूल लीग'की मुंबई शाखा की स्थापना की। १९१७ की १६वीं जून को श्रीमती बेसेन्टको दो साथियों सहित सरकारने बन्दी कर लिया। सारे

देशमें आंदोलन जाग उठा। मुंबईमें होमरूल लीगको नवजीवन मिला। मुहम्मद अली जिन्ना प्रमुख, बहादुरजी, जयकर, भूलाभाई और जमना दास उपप्रमुख, उमर, सोभाणी और शंकरलाल मंत्री, कानजी द्वारका-दास खजानची, चन्द्रशंकर विभाकर, मास्टर और मुंशीजी कार्यवाही समिति के सभ्य निर्वाचित हुए।

मुंशीजी ने इनके साथ मिलकर बड़े परिमाण मे प्रचार प्रारम्भ कर दिया। यहाँ तक कि पत्रिका बाँटने तक का काम मुंशीजी स्वयं करते थे। बम्बई में शान्ताराम की चालो में सदैव स्वशासन की गर्जना होने लगी। प्रति शनिवार-रविवार को दो-दो तीन तीन व्यक्ति सारे गुजरात में जा-जाकर प्रचार कर आते थे। उधर महाराष्ट्र में लोकमान्य तिलक बड़े धूम-धाम के साथ कार्य कर ही रहे थे। इसी बीच मुंशीजी ने होमरूल लीग के लिए 'लोकशासन' शीर्षक का एक निबन्ध तयार किया और लीग ने ही उसे प्रकाशित करके बाँटा।

जुलाई में मेसोपोटेमिया का झगडा खड़ा हुआ। सर ऑस्टिन चेम्बरलेन ने भारतमन्त्री का यह पद छोडा और वह पद मिला मोण्टेग्यू को। अगस्त मे श्रीमती बेसेन्ट को सरकार ने छोड दिया। अगस्त की बीसवी तारीख को मौन्टेग्यू ने भारत मे उत्तरदायी 'राज्यतन्त्र की क्रमिक सिद्धि' करने का वचन दिया। श्रीमती बेसेन्ट के प्रयत्न इस प्रकार फल-प्रद सिद्ध हुए। मुंशीजी तथा उनके साथियो का उत्साह बढा और उन्हों-ने सबल प्रचार करना प्रारम्भ किया। सितम्बर में 'आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी' का चुनाव सर नारायण चन्दावरकर के सभापतित्व मे हुआ। लोकमान्य की लीग और मुंशीजी की लीग ने मिलकर चुनाव मे विरो-धियो को पराजित कर दिया।

नवम्बर मे भारतमंत्री मोण्टेग्यू भारत में आये और उन्होंने श्रीमती बेसेन्ट और लोकमान्य तिलक को दिल्ली कांग्रेस मे आने का निमन्त्रण दिया। मुंशीजी की लीग ने श्री मोण्टेग्यू को एक लिखित निवेदन भेजा जिसे तैयार करने वाली समिति में हार्निमेन, उमर और मुंशीजो थे।

दिसम्बर में श्रीमती एनी बेसेन्ट के सभापतित्व में कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ते में हुआ। उस समय से यह प्रथा चली कि कांग्रेस का अध्यक्ष सारे वर्ष के लिए राष्ट्रपति की हैसियत से काम करे। सी० पी० रामस्वामी कांग्रेस के मन्त्री हुए, जमनादास और उमर सोमाणी उप-मन्त्री हुए। १९१७ से मुंशीजी श्रीमती एनीबेसेन्ट के अधिक सम्पर्क मे आये। अगाध व्यवस्थाशक्ति, अपूर्व वाक्पटुता, अदम्य उत्साह और हिन्द के प्रति अद्भुत भक्ति–इन चार गुणों के कारण श्रीमती बेसेन्ट ने हिन्द में अग्रस्थान प्राप्त कर लिया था। अंग्रेजी शिक्षित पुरुषों में इन्हीं महिला ने पहले पहल गीता का प्रचार किया। स्वयं भी वे आर्य संस्कार अपना चुकी थी, माता रूप से भारत की पूजा करती थी और उस समय तो स्वातन्त्र्य संग्राम की सेनानी ही बनी हुई थीं। छोटा या बडा कैसा भी काम हो वे उसे अत्यन्त व्यवस्थित रूप से सँभालती थी। यहाँ तक कि यदि रद्दी कागज़ भी फाडतीं तो उसके भी समान टुकडे करके फाड़तीं। घडी के घण्टो से भी अधिक वे नियमित थी। स्नेह प्राप्त करने और उसकी रक्षा करने की उनमे बडी कला थी। उनकी बुद्धि तीक्ष्ण थी और उनका व्यक्तित्व आकर्षक था और कर्मयोगी के समान योगी पद प्राप्त किये बिना भी वे राग-द्वेष से बहुत दूर थी। भारत उनके ऋण से उऋण नही हो सकता। उनके सम्पर्क मे आने पर मुंशी जी ने उनसे बहुत कुछ सीखा।

सन् १९१५ मे मुंशीजी पहली बार गाँधीजी से मिले। सन् १९१५ की २५वी मई को गाँधीजी ने साबरमती के तट पर सत्याग्रहाश्रम स्थापित किया था और सत्याग्रह के द्वारा ही १९१५ मे उन्होंने वीरमगांव का कर हटवाया, १९१७ में गिरमिटिया मजदूरों को परदेश मे ले जाने की पद्धति दूर कराई और उसी वर्ष चम्पारन का तथा १९१८ मे खेड़े के सत्याग्रह का सफल सन्चालन किया। इसी वर्ष अहमदाबाद के मिल मजदूर संघ का नेतृत्व करके इन्होने समझौता कराया और संसार में एक आदर्श मजदूर संघ की स्थापना की।

सन् १९१८ की सत्ताइसवीं अप्रैलको दिल्लीमे वायसराय लार्ड चेम्स-फोर्ड ने 'युद्ध सम्मेलन' किया। गाँधीजी भी इसमें सम्मिलित हुए और उसमे उन्होने जो हिन्दी मे भाषण किया वह ऐसी टूटी-फूटी भाषा मे था कि सारे भारत मे उस पर बडी हँसी हुई। उसीके पश्चात् उन्होंने सेना मे रंगरूट भर्ती कराने का काम प्रारम्भ कर दिया। मुंशीजी इसके विरोधी थे। विलिग्डन की अध्यक्षता मे बम्बई मे युद्ध-सम्मेलन होने वाला था। उसके सम्बन्ध मे विचार करने के लिए जमनादास द्वारका-दास के कार्यालय मे श्रीमती बेसेन्ट, लोकमान्य तिलक, गाँधीजी, जिन्ना और मुंशीजी की समिति के कुछ सभ्य मिले। लोकमान्य ने कहा कि यदि मेरी बाते सरकार स्वीकार कर ले तो मैं युद्ध मे सहायता कर सकता हूँ। किन्तु बैठक मे केवल यही निर्णय हुआ कि युद्ध-सम्मेलन मे क्या-क्या करना होगा। लोकमान्य तिलक की बात उडा दी गई।

इस प्रसंग के थोडे ही दिनो पीछे टाउनहाल मे एक सभा बुलाई गई। उसमे मुंशीजी की लीग मे से जिन्ना, जयकर, भूलाभाई और हॉर्निमैन इन चार व्यक्तिओ को आमन्त्रण मिला। लार्ड विलिग्डन उस सभा के अध्यक्ष होने वाले थे अत. मुंशीजी की समिति ने निश्चय किया कि जिस व्यक्ति ने लोकमान्य तिलक का अपमान किया है उसके सभा-पतित्व म होने वाली सभा में हमारे प्रतिनिधियो को नही जाना चाहिए। भूलाभाई को यह अच्छा नही लगा और होमरूल लीग से पृथक् होकर वे उस सभा मे गये।

१९१९ की मार्च में 'काला कानून' पास हुआ। गाँधीजी ने सत्या-ग्रह करने का संकल्प ठान लिया। सत्याग्रह व्रत के पत्र पर हस्ताक्षर होने लगे। छठी अप्रैल को सारे देश मे हड़ताल हुई और समस्त भारतीय जनता ने उसमें भाग लिया। उस दिन भारत ने अपनी राष्ट्रीय महत्ता का पहले-पहल दर्शन किया था।

सरकार घबराहट से पागल हो गई। ८ अप्रैल को गाँधीजी पंजाब जाते हुए रोक दिये गए। १० अप्रैल को डाक्टर किचलू और डाक्टर

सत्यपाल पंजाब से बाहर कर दिये गए। ११ अप्रैल को जनरल डायर अमृतसर में पहुँचा और १३ अप्रैल को जलियाँ वाला बाग में उसने जो हत्याकाण्ड किया वह ब्रिटिश राज्य के अनेक कलंकपूर्ण कार्यों में सबसे भीषण कलंक था। सारे देश मे हाहाकार मच गया। इंग्लैंड भी इस घटना से क्षुब्ध हो गया। डायर के द्वारा किये हुए हत्याकाण्ड का सच्चा विवरण जानने के लिए एक समिति स्थापित की गई। पंजाब मे इतना आतंक छाया हुआ था कि कोई वकील जनता की ओर से खड़ा होने का साहस नहीं करता था। प्रेसीडेन्सी ऐसोसियेशन ने हण्टर समिति के सामने लोगों का पक्ष उपस्थित करने का भार मुंशीजी को सौपा। ३०००) महीने फीस थी। उस समय राजनीति के काम में वकीलों को फीस देने का नियम था। जब कांग्रेस कमेटी ने यह निश्चय किया कि हण्टर समिति के सामने लोकपक्ष नहीं रखना है और मुंशीजी को पंजाब नहीं जाना है तब मुंशीजी के जी-मे-जी आया। तीन हज़ार रुपये लेकर एक महीने के लिए बम्बई छोड़कर बाहर जाना मुंशीजी को गम्भीर आत्म-त्याग के समान लगता था। अभी तक गांधी-युग नही आया था।

अक्तूबर सन् १९१९ में गाँधीजी ने खिलाफ़त कान्फ्रेंस बुलाई। जिन्ना की इसमे तनिक भी अभिरुचि नही थी और मुंशीजी को भी असहयोग में विश्वास नहीं था। १९२० की मई मे फ्रेंचब्रिज के सामने असहयोग आन्दोलन के लिए बहुत बड़ी सभा हुई। तीनों ओर से बहिष्कार करने की गाँधीजी ने सूचना दी। जुलाई १९३० मे गुजरात राजकीय मण्डल ने धारा सभा का बहिष्कार किया। इस सभा मे मुंशीजी को भी बुलाया था; पर वे नही गये और एक टिप्पणी लिखकर भेज दी।

मुंशीजी की राजनीतिक विचारधारा में एक वस्तु तो तभी से निश्चित थी कि भारत की स्वतन्त्रता के लिए राजकीय संस्थाओं का संपर्क बहुत आवश्यक है। १९०८—१९०९ से ही इन्होंने विप्लववाद

को तिलाञ्जलि दे दी थी। मुंशीजी जानते थे कि जिस प्रकार का बहिष्कार गाँधीजी कराना चाहते हैं वह अरण्य-रोदन मात्र है। कोई उसे सुनने वाला नहीं है। इन्होंने एक टिप्पणी भेजकर अपना कर्तव्य पूरा किया जिसका उपयोगी भाग नीचे दिया जाता है।

बहिष्कार का अर्थ

"मेरा ऐसा दृढ निश्चय है कि हाईकोर्टों का बहिष्कार करनेके आदोलन से कुछ लाभ नहीं है। इसके कारण निम्नलिखित हैं—

१. बहिष्कार से देश के अच्छे-से-अच्छे मनुष्य हाईकोर्टों से निकल जायंगे या अलग रहेगे। इससे हाईकोर्टों के द्वारा देश की जो प्रगति हो सकती है वह नही होगी।

२ देश के जिन प्रभावशाली पुरुषो की उपस्थिति से मार्लेमिण्टो सुधार वाले हाईकोर्टों मे भी शासक वर्ग की निरंकुशताओ पर अकुश रहता था वे बहिष्कार के कारण हाईकोर्टों मे जाना छोड देगे।

३ राजकार्य मे प्रवीण नेताओं के द्वारा चुनाव के सम्बन्ध मे जो प्रबल और व्यवस्थित प्रचारकार्य होता है और उस प्रचार के द्वारा प्रजा को जो राजनीति की सामान्य रूप से शिक्षा मिलती है वह धारा सभाओं का बहिष्कार होते ही समाप्त हो जायगी।

४ इस बहिष्कार का फल यह होगा कि आदर, सम्मान और पद प्राप्त करने के लोभी निम्न चाटुकारो को रचनात्मक कार्य के प्रदर्शन का अवसर मिल जायगा, और लोगो को यह विश्वास होने लगेगा कि आज जो स्थिति है वही उत्तम है।" इत्यादि।

हम ऊपर ही कह आए हैं कि मुंशीजी सत्याग्रह के विरोधी थे। महात्माजी ने जब सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ किया तब अपने मन के भाव व्यक्त करते हुए इन्होंने स्पष्ट पत्र लिखा था किन्तु जब सन् १९२८ मे बारडोली का सत्याग्रह हुआ और आबाल वृद्ध महात्माजी के तपः प्रभाव से प्रभावित होकर उस वृद्ध सेनानी के पीछे-पीछे अप्रतिम जागृति का दृश्य उपस्थित करते हुए चलने लगे, उस समय बारडोली जाकर

वहाँ का जो दृश्य मुंशीजी ने देखा उसे देखते ही मुंशीजी को अलौकिक आनन्द का अनुभव हुआ। बारडोली में महात्माजी के सहवास में रहकर ये उनके सिद्धान्तों की सूक्ष्मतापूर्वक आलोचना करने लगे और द्रष्टा बनकर विविध प्रवृतियो का अध्ययन करने लगे। भारत के इस महापुरुष के सम्पर्क मे आते ही मुंशीजी के पिछले भाव बह चले। इन्हे निश्चय हुआ कि वर्तमान काल मे केवल महात्माजी का मार्ग ही भारत को स्वातन्त्र्य प्रदान कर सकता है, लोगों को अभय और कर्मयोगी बना सकता है, देश के दारिद्र्य को दूर करके देश को पुनः समृद्ध बना सकता है। फिर क्या था? इन्होंने तुरंत ही अपने निश्चय को क्रिया के द्वारा व्यक्त कर दिया और हाईकोर्ट से त्यागपत्र देकर तत्काल बारडोली सत्याग्रह में सम्मिलित हो गए। सरदार वल्लभभाई ने बारडोली सत्याग्रह की जो समिति बनाई थी उसके मुंशीजी अध्यक्ष थे।

गाँधीजी ने जब नमक सत्याग्रह प्रारम्भ किया तब इस देश के प्रत्येक व्यक्ति की धमनियों मे उत्साह का अपूर्व दृश्य दृष्टिगोचर हो रहा था। सारा देश इस वृद्ध सेनानी के पीछे पागल था। भारत-भूषण पं० मदनमोहन मालवीय, पं० मोतीलाल नेहरू, पं० जवाहरलाल आदि उच्च कोटि के नेता इस प्रवृत्ति मे पूर्ण मनोयोग से सहयोग दे रहे थे। अन्तःपुर मे रहने वाली कोमलाङ्गी स्त्रिया अपना वैभवपूर्ण जीवन छोड कर त्याग और सेवा की भावना से ओत प्रोत होकर गाँधी के इङ्गित पर मर मिटने को उद्यत थीं। आठ-आठ नौ-नौ वर्ष के बालको के हृदयों मे उमङ्ग, उल्लास और उत्साह लहरे ले रहा था। केवल पेट के लिए अंग्रेजो के टुकडो से पलने वाली पुलिस भी इन देशभक्तों का उत्साह देखकर अपने कर्तव्य का पालन करने मे हिचकिचा रही थी। इस अपूर्व दृश्य को देखकर मुंशीजी निर्विकार होकर चुपचाप बैठ नही सके। इस स्वातन्त्र्य-यज्ञ मे अपने हाथ से भी कुछ आहुति देना इन्होने अपना कर्तव्य समझा। फलस्वरूप ये भी स्वातन्त्र्य संग्राम में कूद पड़े और कारावास में डाल दिये गए। अन्त में बृटिश सरकार को ही झुककर

गाँधीजी के साथ वह समझौता करना पडा जो गाँधी-इरविन पैक्ट के नाम से प्रसिद्ध है।

इसके कुछ समय पश्चात् गांधीजी गोलमेज परिषद में गये। कांग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से गोलमेज परिषद मे गांधीजी द्वारा दिया हुआ भाषण भारत के इतिहास मे स्वर्णाक्षरो से लिखने योग्य है। गांधीजी ने स्वय अपने को सारे देश का सच्चा प्रतिनिधि सिद्ध किया। इस लकुटी-धारी अकिञ्चन व्यक्ति की महत्ता इंग्लैंड के सम्राट् से अधिक थी। स्वयं सम्राट् इसका आतिथ्य करते समय अपने को इसके समक्ष बहुत क्षुद्र अनुभव कर रहे थे। भारत अपने इस सच्चे प्रतिनिधि का आदर सत्कार करने के लिए उत्कण्ठित था। सारा देश इसकी प्रतीक्षा कर रहा था। देश के कोने-कोने से भारत के इस महापुरुष का दर्शन करने के लिए बम्बई के समुद्रतट की ओर दौड लगी हुई थी।

उस समय के वाइसराय लार्ड विलिग्डन देश के इस अपूर्व उत्साह तथा कांग्रेस की इस वर्द्धमान लोकप्रियता को सहन नही कर सके। दमन-चक्र अमन्द गति से घूमने लगा और भारत के अनेक श्रेष्ठ महा-पुरुष कारावास मे ठूंस दिये गए। मुंशीजी भी स्वातन्त्र्य संग्राम के अग्रगण्य सेनानियो मे थे। पुलिस की और सरकार की तो उन पर शनि-दृष्टि लगी ही हुई थी। सरकार ने इन्हें बन्दी करके भायरवाला जेल में डाल दिया। वहाँ से ये बीजापुर जेल पहुँचाये गए। उस समय ये दो वर्ष तक कारावास मे रहे।

पचास वर्ष तक अनवरत अंग्रेज सरकार का सामना करने के पश्चात् राष्ट्रीय महासभा इतनी अधिक शक्तिशालिनी हो गई थी कि अंग्रेज भी विचार मे पड़ गए। अंग्रेजों ने सोचा कि केवल दमन से भारतीयो पर शासन चलाना असम्भव है। कांग्रेस की शक्ति अक्षुण्ण है। किसी भी प्रकार का पशुबल इसकी शक्ति को क्षीण नहीं कर सकता। अतएव हमारा श्रेय इसीमें है कि हम कांग्रेस के साथ सहयोग करके अपना राज्यतन्त्र चलावे। नवीन विधान रचा गया। नौ प्रान्तो मे से सात

प्रान्तों मे राष्ट्रीय सरकार बनी। उस समय बम्बई प्रान्त की राष्ट्रीय सरकार के गृहमन्त्री मुंशीजो चुने गए।

बम्बई प्रान्त के गृहमन्त्री के अल्पकालीन पद पर रहकर मुंशीजी ने प्रान्त के उत्कर्ष के लिए जो-जो प्रयत्न किये वे सब प्रयास इनकी अब तक की कीर्ति पर कलश-स्वरूप हैं।

अंग्रेजों की भेदनीति के कारण देश में प्रतिदिन जो हिन्दू-मुस्लिम दङ्गे होते रहते हैं उनका एक प्रधान केन्द्र बम्बई भी है। मुंशीजीने सर्व-प्रथम इसी ओर ध्यान दिया और अपने अल्प-कालीन समय मे इतने अपूर्व कौशल से काम लिया कि दगा होने ही नहीं दिया। एक बार साम्प्रदायिक गुण्डो के प्रचार के कारण बम्बई मे दंगे ने कुछ सिर उठाया था किन्तु मुंशीजी की अपूर्व सजगता के कारण केवल एक घटे में ही वह कुचल दिया गया। मुंशीजी के इस अद्भुत चमत्कार को आज प्रायः सभी स्मरण करते हैं। उस समय इन्होने जेलो के सुधार की ओर ध्यान दिया। अस्पृश्यता निवारण के लिए कानून की सहायता से हरिजनो को उनके समुचित अधिकार दिलाने की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। शिशुओ की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए पौष्टिक भाजन की व्यवस्था कराई और आबाल-वृद्ध सबको समुचित परिमाण में दूध दिलाने के लिए उन्होने श्री मूँगालाल गोयनका से छः लाख रुपये प्राप्त करके दुग्ध-वितरण योजना बनाई।

अन्त में सन् १९३९ मे जब द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ तब अंग्रेजो ने भारतीयो की इच्छा के विरुद्ध भारत को भी योद्धा देशो में घोषित कर दिया। गांधीजी इसे सहन नहीं कर सके। उन्होने अपनी सम्पूर्ण शक्ति से इसका विरोध किया और इस युद्ध मे भारतीयों की असहमति प्रगट करने के लिए श्री विनोबाभावे को व्यक्तिगत सत्याग्रह संग्रामका प्रथम सेनापति चुनकर खडाकर दिया। उस समय मुंशीजी भी पीछे नही रहे। ये बम्बई प्रांत के गृहमन्त्री की हैसियत से कार्य करके पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। मुंशीजीने एक सच्चे भारतीय की हैसि-

यत से मनसा, वाचा और कर्मणा इस महायुद्ध का सबल विरोध किया। परिणाम स्वरूप इन्हें पुनः कारावास भोगना पडा। यरवदा जेल में सरदार वल्लभभाई पटेल के साथ इनके ये दिवस कारावास मे भी सुखद थे।

इस प्रकार राष्ट्र-सेवा का व्रत लेकर और उसका कुशलतापूर्वक निर्वाह करके मुंशीजी ने बड़ा यश और जनता का आशीर्वाद प्राप्त किया।

: ११ :

राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा

सारा देश जब अंग्रेजी वेशभूषा, अंग्रेजी भाषा तथा पाश्चात्य-संस्कार की मोहिनी से मोहित हुआ बैठा था उस समय भारतीय स्वतन्त्रता मे वाधा देने वाले इस पक्ष की ओर भी गांधीजी ने ध्यान दिया। कांग्रेस में हिन्दी में भाषण करके उपहासास्पद बनकर भी उन्होंने हिंद की राष्ट्रभाषा हिन्दी को अपना गौरवप्रद पद प्रदान किया। वे भाषण करके ही चुपचाप नही रहे परन्तु जाकर उस दक्षिण हिन्द मे हिंदी का प्रचार किया जहाँ के निवासी पूर्ण-रूपेण हिन्दी से अनभिज्ञ थे। इस सेवा के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करने के-लिए ही हिंदी-संसार ने इन्हे दो बार अखिल-भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का अध्यक्ष चुना। दूसरी बार जब सन् १६३५ की अप्रैल में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन गांधीजी की अध्यक्षता मे हुआ था तब गांधीजी अपने साथ मुंशी जी को भी इन्दौर ले गए। मुंशीजी अब तक गुजराती के भक्त थे, गुजराती में ही सब कुछ लिखते थे। महात्माजी के सान्निध्य से इन्होने हिन्दी के सच्चे स्वरूप को पहचाना और अनुभव किया कि सारे राष्ट्र में केवल हिन्दी ही ऐसी भाषा है जो राष्ट्रभाषा के उच्च पद पर आसीन हो सकती है। इस सत्य का अनुभव होते ही ये राष्ट्रभाषा के प्रचार के लिए उद्यत हो गए। सन् १६३६ में इसी उद्देश्य से इन्होंने श्री प्रेमचन्द के साथ 'हंस' के सम्पादन का भार लिया। इनके सम्पादन काल में 'हंस' हिन्दी के श्रेष्ठ मासिक पत्रों में ही नहीं गिना जाता था वल्कि सर्वश्रेष्ठ

समझा जाता था। यह पहला ही अवसर था जबकि देशकी अन्य प्रांतीय भाषाओं से सर्वथा अनभिज्ञ हिंदी भाषा-भाषी सब प्रांतीय भाषाओं के शिष्ट साहित्य को एक ही स्थान पर पढ़कर संस्कृति की उच्च भूमि का अनुभव करते थे। उसका प्रचार केवल हिन्दी भाषा-भाषी प्रांतों तक ही नहीं बंधा रहा वरन् राष्ट्रभाषा का मुखपत्र बनकर वह हिन्दी के सन्देश को सर्वत्र प्रसारित करने लगा। दुःख है कि 'हंस' को इस रूप से प्रारम्भ हुए केवल एक ही वर्ष हुआ था कि इसी बीच श्री प्रेमचन्दजी का देहावसान होगया और उनके अभाव के कारण मुंशीजी अपनी इस योजना को आगे नहीं चला सके।

इसके पश्चात् सन् १९४४ में जब जयपुर में अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन हुआ था उसमें मुंशीजी राष्ट्रभाषा-परिषद् के अध्यक्ष चुने गए और अगले वर्ष होने वाले अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गए। दोनों पदों से इन्होंने जो भाषण दिये वे साहित्य सम्मेलन के इतिहास में अमर रहेंगे।

इसके अतिरिक्त आप बम्बई प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति रहे हैं और आपके ही प्रयास से भारतीय विद्या भवन में हिंदी का अत्यन्त विशद पुस्तकालय और हिन्दी के प्रचार के लिए हिन्दी विभाग तथा हिन्दी साहित्य-परिषद् की स्थापना की गई है।

: १२ :

साहित्यकार

आज के यशस्वी गुजराती लेखक श्री मुंशी जी की अमर कृतियों को देखकर और पढ़कर कोई यह विश्वास नहीं करेगा कि कोई ऐसा भी दिन था जब मुंशीजी के कई मित्रों ने इन्हे गुजराती में लिखने के लिए प्रेरित किया किन्तु इन्हें साहस नहीं हुआ कि गुजराती में लिखने के लिए लेखनी उठाएँ। स्कूल में भी इन्होंने गुजराती का अध्ययन

नही किया था। बचपन मे कभी 'सरस्वती चन्द्र' का पहला भाग; नारायण हेमचन्द्र के कुछ अनुवाद और कुछ फुटकर कहानियाँ इधर-उधर पढी थीं। सन् १६११ में कलापी के केकारव और कवि नागालाल के वसन्तोत्सव का सुरुचिपूर्ण पारायण किया था। बस इतने तक ही इनका गुजराती का ज्ञान परिमित था—यहाँ तक कि गुजराती में एक अच्छा पत्र तक ये नही लिख पाते थे। फिर भी सन् १६११-१२ से इन्होंने गुजराती मे पत्र लिखने का श्रीगणेश कर दिया।

सन् १६१२ की जून मे अपने मित्र श्री चन्द्रशङ्कर के विशेष आग्रह से इन्होने 'मारी कमला' नामक एक छोटी कहानी लिखी। श्री चन्द्रशङ्कर ने उसकी बड़ी प्रशंसा की और उसे 'स्त्रीबोध' में प्रकाशित होने के लिए भेज दिया। इस पहली बात ने ही मुंशी जी को साहित्य-जगत् मे प्रसिद्धि प्रदान कर दी।

इस प्रयास से मुंशीजी को एक नवीन अनुभव यह हुआ कि अंग्रेजी के शब्दाडम्बरपूर्ण प्रवाह मे आत्मा को सरल तथा स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं होती। शब्दो के फेर मे कथन की सरलता और भाव की सूक्ष्मता दब जाती थी। 'मारी कमला' लिखते समय इनकी अविकसित गुजराती मे भी शब्द गौण बन गए। भाव और कल्पना-चित्र इन पर अधिकार जमा कर इनके द्वारा शब्द देह प्राप्त करने लगे। उसी समय इन्हे यह सत्य ज्ञात हुआ कि हमारा वास्तविक जीवन हमारी मातृभाषा के द्वारा ही व्यक्त हो सकता है और तभी सरल, प्रभावोत्पादक और कलात्मक रचना भी होती है। उसी वर्ष अगस्त महीने मे इन्होंने 'भार्गव त्रैमासिक' निकाला। उसके लिए लिखने, आए हुए लेखों को सुधारने और छपाई की भूल सुधारने आदि के काम मुंशीजी स्वयं ही करते थे। फलस्वरूप इन्हें गुजराती लिखने और सुधारने का धीरे-धीरे अभ्यास होने लगा।

उपन्यास-लेखक के रूप में मुंशीजी की रचना-कला के तीन स्वरूप दिखाई देते हैं। पहले रूप में ये केवल आत्म-कथन करते हैं,

अपने द्वारा अनुभूत सुख या दुःख की गाथा गाते हैं। दूसरे रूप में ये एक स्वानुभव को पहले कल्पना में संग्रह करते हैं और फिर उसे मूर्त करने वाले काल्पनिक व्यक्ति या प्रसङ्ग का आश्रय लेकर कहानी लिखते हैं और तीसरे रूप मे अनुभूत मनोदशा के अनुसार उसका काल्पनिक स्वानुभव करके उस पर मुख्य पात्र या प्रसङ्गों की रचना करते हैं।

'मारी कमला' से इन्होंने पहला रूप प्रारम्भ किया। इसमे इन्हों-ने 'कोकिला', 'वेरनी वसूलात' (१९१३-१९१४) और 'कोनो वाँक' (१९१५-१६) लिखे। 'पाटणनी प्रभुता' (१९१६) से इन्होंने दूसरा रूप प्रारम्भ किया, यद्यपि 'पृथ्वीवल्लभ' में पहला रूप ही प्रधान है। 'भगवान कौटिल्य'(१९२४-२५) से इन्होने तीसरा रूप अपनाया जिसका अधिक प्राबल्य 'जय सोमनाथ' (१९३४-३७) में दिखाई देता है। मुंशी जी ने जबसे गुजराती में लिखना प्रारम्भ किया तब से इनकी लेखनी अबाध गति से चल रही है। पद्य को छोडकर इन्होने साहित्य के प्रत्येक रूप में सफलतापूर्वक रचना की है। कहानी, उपन्यास, नाटक आदि के स्रष्टा के रूप में तो इन्होंने सर्वश्रेष्ठ साहित्यकारों में स्थान प्राप्त किया ही है, परन्तु भारतीय संस्कृति और भारतीय तत्वज्ञान, गीता और योग शास्त्र, भारत के इतिहास तथा गुजरात के गौरव पर भी इन्होने एक सफल अध्येता के रूप से लिखा है। इनका यह योग प्रधान है और सब गौण है।

सन् १९१४ के प्रारम्भ में श्री अम्बालाल जानी ने मुंशीजी को गुजराती पत्र मे धारावाहिक रूप से उपन्यास लिखने के लिए प्रेरित किया। पहले तो इन्हें साहस नहीं हुआ किन्तु फिर इन्होने 'वेरनी वसूलात' (वैर का बदला) का प्रथम खण्ड लिखकर अम्बालाल भाई को दिया। 'गुजराती'के सम्पादक ने इसे स्वीकार किया और इस साप्ता हिक में १९वीं अगस्त से 'वेरनी वसूलात' धारावाहिक उपन्यास के रूप मे प्रकट होने लगा।

मुंशीजी को इस प्रारम्भिक प्रयत्न मे ही बड़ा सम्मान मिला और

वे चुपचाप इस सम्मान को सिर आँखों चढाते जा रहे थे। यह कथा इतनी प्रिय हुई कि इनके एक मित्र की स्त्री ने इसे झटपट पढ लेने को आग्रह किया क्य।ि वह रुग्ण थी और उसे अपने जीवन का भरोसा भी नहीं था। इसलिए वह मित्र मुंशीजी से इस उपन्यास की अवशिष्ट पाण्डुलिपि ही ले गए।

'वेरनी वसूलात' मुंशीजी के आत्म-विकास का एक सीमा-चिह्न है। सन् १६१४ के सितम्बर की बारहवी तारीख को मुंशीजी ने यह उपन्यास पूर्ण किया।

सन १६१२ मे मुंशीजी यूनियन के मंत्री हुए थे। १६१३ मे उन्होने इसके सब नियम बदल डाले और संस्था का नाम गुर्जर सभा रखा, और १६१४ मे गुर्जर सभा पूर्णतः प्रौढ़ हो गई।

सन् १६१५मे'हिंदुस्थान'ओर'प्रजामित्र'के सम्पादक रत्नलाल शाहकी प्रेरणा से इन्होने 'कोनो वाँक ?' उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया। 'कोनो वाँक ?' की मूल प्रेरणा का आधार एक करुण-कथा है। इनके एक मित्र की पत्नी बाल-विधवा हो गई। उसके दु.ख ने इनके हृदय को मथ डाला और उस भाव मंथन के फलस्वरूप 'कोनो वाँक?' नवनीत होकर उपन्यास का रूप धारण करने लगा। प्रारम्भ से ही मुंशीजी गुजरात के इतिहास के बड़े प्रेमी थे। कालेज मे ही इन्होने 'ब्रिग' लिखित 'गुजरात के नगर' पढकर 'दि ग्रेव्ज़ आफ वैनिश्ड एम्पायर्स' (लुप्त साम्राज्यो की समाधियां) शीर्षक लेख बड़ौदा कालेज की पत्रिका मे लिखा था। अतः जब ये गुजराती पढने और लिखने लगे तब गुजरात की भक्ति के अङ्कुर इनके हृदय में फूटने लगे और इन्होने गुजरात का इतिहास पढना प्रारम्भ किया। इसी बीच गुजराती पत्र का निमन्त्रण आया और ६०) मे इन्होने एक ऐतिहासिक उपन्यास लिख देने का उन्हे वचन दिया।

बड़े मनोयोग और तन्मयता के साथ इन्होंने अवकाश के दिनो मे 'पाटण की प्रभुता' लिखी और इसीलिए वह अत्यन्त सुसम्बद्ध और समान शैली में है। अपनी प्रणयोर्मियों पर इन्होंने उस समय तक

अधिकार कर लिया था और इसीलिए प्रभाव-वृत्ति और भावना-शीलता की समन्वित मूर्ति होकर इनका 'मुंजाल' प्रकट हुआ।

इसी समय चन्द्रशेखर ने हाजी मुहम्मद अलारखिया शिवजी से इनकी जान-पहचान कराई। बहुत वर्षों से हाजी मुहम्मद 'सदी' निकालने का स्वप्न देख रहे थे और इन दिनों वे अपने स्वप्न सिद्ध करने में संलग्न थे। कला के सब क्षेत्रों की जानकारी, योग्यायोग्य शृंगार निश्चित करने का विवेक और कला के विकास में इनकी श्रद्धा ऐसी थी कि मुंशीजी भी इनकी ओर आकृष्ट हुए बिना न रह सके। वे अपने एक खोजा मित्र के पास इन्हें ले गए और इनके पाँच भावी उपन्यासों के अधिकार ले लेने को तैयार हो गए। मुंशीजी इसके लिए उद्यत नहीं थे। इन्होंने 'वीसवीं सदी' के लिए 'गुजरात का नाथ' लिख देने का इन्हें वचन दिया।

'वीसवी सदी' में नरसिंह राव भाई बहुत रस लेते थे, इसलिए हाजी मुहम्मद के यहाँ मुंशीजी उनसे बहुत बार मिलते। 'पाटन की प्रभुता' उनको बहुत अच्छी लगी। 'गुजरात का नाथ' नाम का धारा-वाहिक उपन्यास जैसे-जैसे प्रकाशित होता वैसे-वैसे उसके गुण-दोष की सूचना भी मुँशीजी को मिलती रहती। उनकी विवेचना दृष्टि बहुत ही कठोर थी। शब्द, भाव, प्रसङ्ग और वार्तालाप सबको ये कठोर कसौटी पर कसते थे।

नरसिंहराव भाई ने सारे जीवन भर साहित्य की सेवा की थी। दुःख में और सुख मे साहित्य ही उनका साथी था। तलवार की धारके समान प्रखर विवेचक बुद्धि के द्वारा वे गुजराती साहित्य में सर्वमान्य न्यायाधीश के सिंहासन पर बैठे थे। इनके सद्भाव से मुंशीजी को प्रेरणा मिलने लगी। सन् १९१८ में 'बीसवीं सदी' मे जब 'गुजरात का नाथ' पूरा होने को आया तब उसका उपोद्घात लिखने के लिए मुंशीजी ने नरसिंह राव भाई से प्रार्थना की। उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया और पुस्तक के योग्य अत्यन्त सुन्दर उपोद्घात लिख दिया।

पुस्तकों तथा 'गुजरात ऐण्ड इट्स लिटरेचर, (गुजरात और उसका साहित्य) के रूप में प्रकट हुआ।

मुंशीजी ने इस प्रकार १९२१--२२ में महाभारत, वायु, मत्स्य, मार्कण्डेय, शिव, विष्णु, भागवत और ब्रह्माण्ड पुराण पढे। इस अभ्यास के भी सविस्तर सूत्र लिखे। उसके आधार पर गुजराती में 'भारतीय इतिहास के सीमा-चिह्न' 'राम जामदग्नेय' आदि लेख लिखे। इसका परिपाक 'अर्ली आर्यन्स इन गुजरात' (गुजरात के प्रारम्भिक आर्य) शीर्षक हुआ। इस प्रेरणा के द्वारा १९२२ मे 'पुरन्दर पराजय' नामक पहला नाटक लिखा। पीछे से पौराणिक और वेदकालीन नाटक तथा उपन्यास भी इसी प्रेरणा के द्वारा लिखे गए।

महाभारत के पठन से मानवता के बहुत-से रहस्य मुंशीजी की समझ मे आए और इन्होंने 'मेनहुड ऐंड इट्स इंटरप्रेटर्स' (मानवता और उसके व्याख्याता) शीर्षक सविस्तर लेख अंग्रेज़ी मे लिखा और उसीके आधार पर पीछे मानवता के आर्षदर्शन नामक आदि-वचन लिखा।

मुंशीजी के 'होमरूल लीग' मे सम्मिलित होने के बाद 'गुर्जर सभा' सो गई थी। इनके साथियो मे से प्रायः सब इधर-उधर बिखर गए थे। सन् १९२१ मे चन्द्रशंकर इनसे बराबर कहा करते थे कि आप 'समालोचक' का सम्पादकत्व स्वीकार कर ले। इन्होंने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया परन्तु उसके साथ यह टेक लगा दी कि उसका स्वामित्व एक कम्पनी को सौंपा जाय जिसमे कम-से-कम १० हज़ार के शेयर हो। मुंशीजी ने सब तैयारी कर ली और नरसिहराव भाई का आशीर्वाद प्राप्त करके इन्होंने १९२२ के मार्च से 'साहित्य प्रकाशक कम्पनी' और 'साहित्य संसद' की स्थापना की। इसमें इन्हे गुजरात के प्रायः सभी श्रेष्ठतम साहित्यकारो का पूर्ण सहयोग मिला।

'गुजरात' के पहले अक से ही इसका आकर्षण बढता गया। 'गुजरात' का ध्येय केवल 'बीसवी सदी' का स्थान लेना ही नहीं था,

वरन् इसका मुख्य ध्येय तो गुजरात के गौरव का सन्देशवाहक बनकर गुर्जर साहित्य को श्रेष्ठ बनाना था। पहले अङ्क से सम्पादक के पद पर आरूढ़ होकर मुंशीजी ने यह सदेश देना प्रारम्भ किया। मुंशीजी का प्रसिद्ध उपन्यास 'राजाधिराज' भी क्रमश. इसीमे प्रकाशित होने लगा।

सन् १९१८ के मई मास मे मुंशीजी के साहित्य व्योम मे नवीन तारिका उदय हुई, ये थीं श्रीमती लीलावती सेठ जो अहमदाबाद के एक धनाढ्य की पत्नी थीं। उनसे प्रथम परिचय होने के पश्चात् श्रीमती लीलावती ने अपने लिखे हुए 'रेखाचित्र गुजरात' मे प्रकाशित कराने के लिए मुंशीजी के पास भेजे। उन रेखाचित्रो मे श्रीमती लीलावती ने स्वयं मुंशीजी का चित्रण इस प्रकार किया था—

'मनुष्य-स्वभाव को पहचानने की शक्ति इनमे अद्भुत है। मेधा के चमत्कार इनमे प्रकाशित होते हैं, परन्तु साथ ही 'अहं' के चमत्कार भी उसी परिमाण मे विद्यमान हैं।

'बुद्धि के शिखर पर से ये बेचारे जगत की ओर दृष्टिपात करते हैं। किसी-किसी ने कहा है कि इनके पात्रो मे अहंकार अधिक है। इनके सम्बन्ध मे भी ऐसा ही कहा जा सकता है।

'वैज्ञानिक के समान ये केवल विश्लेषण करने के लिए ही जनता से मिलते हैं। स्वभाव के सब तत्वों को ये देखते हैं, निर्दय होकर उनका वर्गीकरण करते है और ये समझते हैं कि मै ऐसा कर सकता हूँ।

'ऐसे मनुष्य की बुद्धि को जगत नमस्कार कर सकता है परन्तु उसका आदर नही कर सकता। इनमे आत्म-सम्मान अधिक है। दूसरों की ओर तिरस्कारपूर्वक देखने की वृत्ति भी कुछ अंश मे है और इनका रंग-ढंग सभ्य और अच्छा है।

'संसार की ओर से ये उदासीन है क्योकि उसमे वे कोई भी स्वेप्सित वस्तु नहीं प्राप्त कर सके। अपने अभिमान के कारण ये ससार के आगे इसका आरोप नही करते वरन् उलटे उससे और भी अधिक घृणा करते हैं। उसकी निन्दा करने मे उसे चूर-चूर करने में वे आनन्द

लेते हैं। ये किसी की सहानुभूति नहीं चाहते क्योंकि ये समझते हैं कि इससे मेरे गौरव को ठेस लगती है।'

मुंशीजी को श्रीमती लीलावती के द्वारा लिखे हुए ये रेखाचित्र अच्छे लगे। इन्होंने उन्हें 'गुजरात' के लिए बराबर लेख लिखने के लिए निमन्त्रण दिया। उस समय ये श्रीमती लीलावती जी को पहचानते भी नहीं थे और न उनके गृहस्थ जीवन का ही इन्हें कुछ पता था। परन्तु इनका हृदय कह रहा था कि इन्हें जन्म-जन्मान्तर की कोई सखी मिल गई है।

'गुजरात' के निमित्त इन दोनों का पत्र-व्यवहार प्रारम्भ हुआ। सम्वत् १९७८ के श्रावण मास का 'गुजरात' का अङ्क इन दोनों के मानसिक सहजीवन का प्रथम सम्मिलित प्रयत्न था।

इस समय तक मुन्शीजीने अपनी व्यावसायिक प्रगति के साथ लोक-सेवा का कार्य भी अपने ऊपर ले लिया था किन्तु उससे इनकी साहित्य-साधना में कोई अन्तर नहीं आया और ये बराबर लिखते ही रहे। निम्नलिखित तालिका से यह ज्ञात होगा कि सन् १९१२ से सन् १९४६ तक इन्होंने कितने प्रकार की कितनी रचनाएँ की हैं।

(१) सामाजिक उपन्यास—

१. वेरनी वसूलात [वैर का बदला १९१३-१४]
२. कोनो वाँक ? [किसका अपराध १९१५-१६]
३. स्वप्न-द्रष्टा [१९२४-२५]
४. स्नेह-संभ्रम [प्रेम में गड़बड़ १९३१-३२]
और ५. डा० मधुरिका [छप रही है]

(२) कथा—

१. शिशु अने सखी [बच्चा और उसकी मित्राणी १९३१-३२]

(३) गुजरात से सम्बन्ध रखने वाली ऐतिहासिक प्रेम-कथाएँ—

[उनमे आने वाली कथा के क्रम से]

१. पृथ्वी-वल्लभ [१९२०-२१]

२. जय सोमनाथ [१९४०]
३. पाटणनी प्रभुता [पाटण की प्रभुता १९१६]
४ गुजरातनो नाथ [गुजरात के नाथ १९१८-१९]
५ राजाधिराज [१९२२-२३]

(४) मौर्यों से पहले की ऐतिहासिक प्रेम कथा—

१. भगवान् कौटिल्य [१९२४-२५]

(५) कहानियाँ—समय-समय पर प्रकाशित होती रही और पीछे 'मारी कमला अने बीजी वातो' के नाम से पुस्तकाकार संगृहीत हुईं।

(६) नाटकों और उपन्यासो की एक अवली—जिसमे महाभारत से पहले के आर्यों की वे वीर गाथाएँ आती है जो महाभारत-काल तक भी परम्परागत चली आई थी। घटनाओं के क्रम से उन्हे इस प्रकार रखा जा सकता है—

क प्रथम भाग

१. पुत्र समोवडी नाटक [पुत्र-तुल्या १९१९]
२. पुरन्दर-पराजय नाटक [१९२९]
३ अविभक्त आत्मा नाटक [१९२३]

ख. द्वितीय भाग [लोपामुद्रा शीर्षक से प्रकाशित]

४. लोपामुद्रा, प्रथम भाग, विश्वरथ, उपन्यास [१९३३]
५. लोपामुद्रा, द्वितीय भाग, शबर कन्या नाटक [१९३४]
६ लोपामुद्रा, तृतीय भाग, देवे दधिले [देवदत्ता १९३४]
७. लोपामुद्रा, चतुर्थ भाग, विश्वामित्र ऋषि नाटक [१९३४]

ग तृतीय भाग

८. लोमहर्षिणी, उपन्यास [१९४६]
९ भगवान् परशुराम, उपन्यास [१९४६]

घ. उपसहार

१०. तर्पण नाटक [१९२४]

(७) जीवनचरित्र

१. नरसैया भक्त हरीनो [हरि के भक्त नरसिंह मेहता १९३७]

२. नर्मद [कवि नर्मदाशंकर का जीवनचरित्र १९३४]

(८) आत्मचरित

१. सीधा चढाण [सीधी चढ़ाई]

२. अडधे रस्ते [आधे रस्ते १९४१]

३. मारी बिन जवाबदार कहानी [मेरी अनुत्तरदायित्व पूर्ण कथा १९४३]

(९) सामाजिक नाटक

१. वावा शेठनु स्वातन्त्र्य [वावा शेठ की स्वतन्त्रता १९१५]

२ बे खराब जण [दो बुरे मनुष्य १९२४]

३. आज्ञांकित [आज्ञाकारी १९२७]

४ पीडाग्रस्त प्रोफेसर [१९३३]

५. सामाजिक नाटक [एक जिल्द में]

६ काकानी शशी [चचा की शशी १९२९]

७. ब्रह्मचर्याश्रम [१९३१]

(१०) ऐतिहासिक नाटक

१. ध्रुव स्वामिनी देवी [१९२८]

(११) फुटकर लेख

१. केटलाक लेख [कुछ लेख, जिल्द १ और २ १९२५-२६]

२ गुजरातना ज्योतिर्धरो [गुजरात के अग्रणी १९२६]

३ थोडनका रस दर्शनो [सुन्दरता के कुछ अर्थ १९३३]

४. आदि वचनो [उद्घाटन भाषण]

प्रथम भाग [१९३३]

द्वितीय भाग [१९४२]

५. गुजरातनो अस्मिता [गुजरात की जागृति १९३८]

६. अखण्ड हिन्दुस्तान [१९४५]

(१२) अंगरेजी पुस्तकें—

१ गुजरात ऐण्ड इट्स लिटरेचर [गुजरात और उसका साहित्य १९३४]

२. आई फौलो दि महात्मा [मैं महात्मा के पीछे हूँ १९४०]

३ अर्ली आर्यन्स इन गुजरात [गुजरात मे प्रारम्भिक आर्य १९३९]

४. अखण्ड हिन्दुस्तान [१९४२]

५. दि चेंजिग शेप आफ इण्डियन पौलिटिक्स, सेकिंड एडिशन, इण्डियन डेडलाक [भारतीय राजनीति का बदलता हुआ स्वरूप दूसरा सस्करण-भारतीय गतिरोध—१९४६]

६. दि आर्यन्स ऑफ दि वेस्ट कोस्ट [पश्चिमी तट के आर्य १९४५]

७. दि इम्पीरियल गुर्जर्स [राजसी गुर्जर—५५० से १३०० तक १९४५]

८. ऐन ऐक्सपेरिमेंटल ऐप्रोच टु भगवद्गीता [भगवद्गीता तक प्रयोगात्मक पहुंच १९४४]

९ दि भगवत्गीता ऐंड मौडर्न लाईफ[भगवद्गीता और आज का जीवन १९४६]

१० रुइन दैट ब्रिटन रौट [ब्रिटेन ने क्या विनाश किया १९४६]

११, स्पार्क्स फ्रौम दि एन्विल [निहाई से उठी चिनगारियाँ १९४६]

अपनी व्यावसायिक और सामाजिक व्यस्तता में भी अपनी लेखनी को सतत गतिशील रखने वालों में सम्भवतः मुंशीजी ही एक मात्र ऐसे व्यक्ति हैं जो अंग्रेज राजनीतिज्ञ और लेखक मेकॉले से टक्कर ले सके।

: १३ :

प्राचीन आर्यों की वीर गाथा

यदि मुंशीजी की सब रचनाओं का आलोचनात्मक विश्लेषण किया जाय और उनकी क्रमिक उत्कृष्टता का विवेचन किया जाय तो निश्चित

रूप से मुंशीजी के उस ग्रंथ समुच्चय का सबसे उच्च स्थान है जिसमें उन्होने वैदिक और पौराणिक युग के वीरों, और वीराङ्गनाओं का चरित्र-चित्रण करके उनसे सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का नवीन मनोवैज्ञानिक निरूपण किया है। प्रागैतिहासिक काल के भारत मे जिन उदस्त विचारों और आचारों ने हमारी संस्कृति को बल प्रदान किया, उसका संरक्षण किया, उसे गति प्रदान की और उसके आदर्श का निर्वाह किया उन सबको नाटक और उपन्यास की काव्य माला मे गूंथकर मुंशीजी ने भारतीय साहित्य को अद्भुत विभूति प्रदान की है सामाजिक और राजनीतिक वातावरणों के निम्न, दलित और और आदर्शहीन चित्रण की कलुषता से बहुत ऊँचे उठकर सहसा मुंशीजी की लेखनी, हमें इतिहास के अभग्न और भग्न अवशेषों से पार लेजाकर उस दिव्य लोक मे पहुचा देती है जहां संसार की वासनाएँ भी मंगलमयी तपस्या का आश्रय लेकर प्रकट और विलीन होती हैं, जहाँ प्रवुद्ध मानस पहाड के ढाल से उतरता-उतरता सहसा आत्मज्योति का साक्षात्कार करके ऊपर उठने लगता है, जहाँ स्वार्थ के क्षुद्र बंधन आत्मत्याग और बलिदान के पवित्र भावो से प्रभावित होकर टूटकर, खुलकर गिर जाते हैं, जहाँ मनुष्य की मानुषिक भावनाएँ दिव्य होकर लौकिक जगत् मे भी अलौकिकता की सृष्टि करती हैं। जहाँ अज्ञान के तमसावृत पथ ज्ञान के आलोक से प्रकाशित होकर सुपथ के रूप मे परिवर्तित हो जाते हैं।

भारतीय संस्कृति के गौरवमय अतीत की इन छिपी हुई गाथाओं को मुंशीजी ने नाटक और उपन्यास की नई साहित्य-शैलिओं मे ढालकर अत्यन्त ओज और स्फूर्तिमयी वाणी मे सुन्दर को सुन्दरतर और सुन्दरतम बनाते हुए जो विशिष्टता प्रदान की है वह केवल गुजराती साहित्यके लिए ही नही सम्पूर्ण-भारतीय साहित्य के लिए गर्व की वस्तु है।

लेखक ने अपनी काव्य-तपस्याका अधिक समय भी इन्हीं रचनाओं को दिया है और इसीलिए इनमे जो संजीवनी शक्ति है वह मुंशीजी की लेखनी को और मुंशीजी को चिरायु रखने के लिए पर्याप्त और सबल

साधन है। इस ग्रन्थ समुच्चयमे केवल लेखनीकी प्रौढता मात्र ही नहीं है, विचारो की शृंखला बद्ध सज्जा, ही नही है लेखक की अपनी अनुभूति की व्यंजना ही नही है, और वर्तमान समाज की त्रुटियो, बुराइयों और विषमताओं से उत्पन्न हुई चिढ़ की अभिव्यंजना मात्र नही है वरन् इसमे लेखक के गंभीर अध्ययन और विशद् पांडित्य का भी ज्वलंत प्रकाश है क्योंकि इस प्रकार के ग्रन्थ समुच्चय की रचना करने के लिए केवल प्रतिभा ही अपेक्षित नही होती, इसके लिए वैदिक और पौराणिक इतिहास तथा भारतीय संस्कृति का गंभीर ज्ञान भी आवश्यक है। सामाजिक उपन्यास या नाटक लिखने मे उपन्यासकार या नाटककार को जो स्वाभाविक सरलता और स्वतंत्रता प्राप्त होती है वह ऐतिहासिक या सांस्कृतिक ग्रंथों की रचना मे संभव नहीं है क्योंकि वहाँ पद-पद पर पथ-भ्रष्ट होने की या भ्रांत होने की शंका निरंतर बनी रहती है। और इसीलिए जिस गंभीरता और तेज के साथ ये ग्रंथ लिखे गए हैं वह सर्वथा सराहनीय है। यह ग्रंथ समुच्चय उन कथाओ पर आश्रित है जो महाभारत और पुराण काल मे भी प्रसिद्ध थीं। यह पूरी काव्यमाला मिलकर एक ऐसा महाकाव्य बन गई है जिसमे वैदिक और पूर्व वैदिक काल के वीरों और वीराङ्गनाओ के जीवन और उनके कार्यो का पूरा लेखा बन गया है। उसका मुख्य आधार वैदिक ऋषिओ के तीन महा गोत्रो का पराक्रम है जिनमे पहला गोत्र या कुल है भृगुओ का, जो अग्नि-पोषक अथर्वणों के साथ पौरोहित्य करते है। वे अपने को उन भृगु की संतान मानते हैं जिन्होने पहली वार मनुष्य की संतान के लिए अग्नि-स्थापन किया। इसी प्रकार के दो और प्रसिद्ध परिवार थे—एक वशिष्ठ और दूसरे विश्वामित्र जो ऋग्वेद संहिता मे वर्णित दस राजाओ के युद्ध मे योद्धा होकर लडे थे। अनेक प्राचीन और नवीन लेखकों ने इस युग के महापुरुषो और महादेवियों मे से एकाध का वर्णन फुटकर रूप मे किया है और उन सबके आधार प्रायः पुराण ही रहे हैं। इधर काशी हिंदू विश्वविद्यालय के पंडित बलदेव उपाध्याय ने वैदिक गाथाएं

लिखकर कुछ वैदिक महाव्यक्तिओ के चरित्रों को प्रकाश दिया है। किंतु मुंशीजी का विधान उनका अपना है। उन्होंने आर्य शक्ति, आर्य चरित्र आर्याचार प्रायः उसी रूप में चित्रित किए हैं जिस रूप मे वे ऋग्वेद संहिता मे प्राप्त है। कुछ प्रचलित सिद्धांतो, वादों और प्रसिद्धिओं के आधार पर और कुछ काल्पनिक सम्बन्धों की योजना करते हुए उन्होंने सब घटनाओ को इस प्रकार सूत्रबद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ब्राह्मण और महाभारत काल से पहले आर्यों ने पञ्चनद से नर्मदा तक जिस गति से अपना विस्तार किया था वह सब सुन्दर भाव-कथा के रूप में उपस्थित किया जा सके। यद्यपि ऋग्वैदिक काल के वातावरण का चित्रण करने के लिए नाटक और उपन्यास कोई उपयुक्त साधन नहीं है किंतु लेखक की कुशलता के कारण इन्ही साधनो में प्राण आ गए हैं।

इनमें से पहले खण्ड में उस युग का वर्णन है जब मनुष्य, दानव और देवता सब एक साथ मिलतेजु-लते थे। दूसरे और तीसरे भाग मे उस वैदिक युग का दर्शन है जिसका विवरण ऋग्वेद सहिता मे दिया हुआ है। इसमे की अधिक सामग्री उनके खोजपूर्ण व्याख्यानों पर अवलम्बित है।

प्रथम भाग—

(अ) पुत्र समो वड़ी (पुत्रतुल्य) नाटक—पौराणिक युग का प्रभात हो रहा था। मनु के वंशज आपस में लडते हुए या पातालवासी दानवों से युद्ध करते हुए इधर-उधर भटकते फिर रहे थे, और उन ही पर्वतों पर रहने वाले देवता भी दानवो से निरंतर युद्ध कर रहे थे। दानवों के पुरोहित थे शुक्र जो अपनी सजीवनी विद्या से मृतक में भी प्राण डाल सकते थे और उनकी कन्या थी देवयानी—स्वर्ण के समान दीप्त रंग वाली, अनन्य शक्तिशालिनी सुन्दरी। देवताओं के पुरोहित बृहस्पति के पुत्र कच पाताल लोक में शुक्र से शिक्षा लेने आते हैं और वहाँ देवयानी से उनकी भेट होती है। प्रथम दर्शन मे ही देवयानी पर कच मुग्ध हो जाता है किंतु शुक्र से वह कम भयभीत नही है। उधर दानवो

का राजा वृषपर्वा भी शुक्रके पास पहुँचता है और उसे यह जानकर अत्यंत शंका होती है। वे सोचते हैं कि उनके शत्रु बृहस्पति के पुत्र का आश्रम मे आना उचित नहीं है। किंतु शुक्र दृढ हैं, जो अपने यहाँ शिक्षा लेने आए उसे लौटाया नही जा सकता। इसके पश्चात् इंद्र के द्वारा भेजे हुए समझौते की चर्चा वृषपर्वा करता है और वृषपर्वा का पुत्र वृक भी उसका समर्थन करता है। किंतु शुक्र को यह सन्धि प्रस्ताव अच्छा नही लगता और वे दानवों को युद्ध के लिए उत्साहित करते है। कच के प्रति देवयानी की स्वाभाविक आसक्ति देखकर शुक्र उसे सावधान कर देता है क्योंकि वे उसे ही अपना पुत्र मानते है और उसे ही अपना उत्तराधिकारी भी समझते है। देवयानी अपने पिता को वचन दे देती है। देवयानी के इस निश्चय को सुनकर कच व्याकुल हो जाता है क्योंकि उसे बृहस्पति ने यही आज्ञा दी थी कि तुम जाकर इस कन्या से विवाह करके उसे देव लोक मे ले आना।

देवयानी भी कच से प्रेम करतीहै और वृपपर्वा तथा उसके सव साथी कच को मार डालने के फेर मे हैं। वे जानते है कि शुक्र दूसरे को तो जिला सकते है किन्तु स्वयं अपनेको नही जिला सकते। इसलिए वे कचके टुकडे करके उसका मांस पकाकर शुक्र को खिला देते है। देवयानी के हठ और आग्रह पर शुक्र अपने उदर मे पडे हुए कच को संजीवनी मंत्र सिखाते हैं और शुक्र का पेट फाडकर कच बाहर निकल आता है और फिर न चाहते हुए भी देवयानी के आग्रह से वह संजीवनी मंत्र पढ़कर शुक्र को जीवित कर देता है। देवयानी से विवाह करके कच उसे देव-लोक ले जाना चाहता है, किन्तु देवयानीके तेजपूर्ण उत्तर से कच निष्प्रभ हो जाता है और अन्त में जब कच देवलोक जाना चाहता है तब वह अन्तिम सन्देश देती है—'जाओ जाकर अपने पिता से कह देना कि तुम कच जैसे पुत्र के बदले मे शुक्र की कन्या नही प्राप्त कर सकते।'

दानवो और देवों का युद्ध अपनी पराकाष्ठा को पहुँच जाता है। दानवों मे आत्म-विश्वास समाप्त हो जाता है, शुक्र की उत्तेजना काम

नहीं करती है। उधर देवयानी ने अपनी शक्ति से देवताओं को परास्त करना प्रारम्भ कर दिया।

इतने में उसे नरपति ययाति की सहायता मिलती है जिसने देवयानी को उस समय कुँए में से निकाला था जब दानवों के राजा वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठा ने उसे कुँए में ढकेल दिया था। उसकी हाव-भावपूर्ण प्रेरणा से प्रभावित होकर ययाति त्रैलोक्य विजयी होने की आकांक्षा करने लगता है और उसी आवेश में देवयानी के प्रस्ताव पर ययाति उससे विवाह कर लेता है, और आनन्द भ्रमण के लिए नन्दन-वन जाने की इच्छा प्रकट करता है। किन्तु देवयानी रोकती है—'इन्द्र का सिंहासन जीते बिना हम कैसे रास-रंग करें।

पन्द्रह वर्ष बीत जाते हैं। देवयानी की प्रेरणासे ययाति देवताओं से युद्ध प्रारम्भ कर देताहै और इस निरन्तर युद्धमें उसे सांत्वना देने वाली है केवल शर्मिष्ठा जो वहीं पास में एक छोटे से घर में रहती है। प्रायः ययाति जब छुट्टी पाते थे तब उसी के पास पहुँच जाते थे। एक दिन देवयानी ने उसे देख लिया और दोनों पर वह बहुत क्रुद्ध हुई।'इस पर शुक्र आकर ययाति को मृत्यु दण्ड देना चाहते हैं किन्तु शर्मिष्ठा के दैन्य-पूर्ण अनुरोध से ययाति की रक्षा हो जाती है। किन्तु शुक्र के शाप से ययाति अत्यन्त वृद्ध हो जाते हैं। ययाति के अत्यन्त प्रार्थना करने पर शुक्र कहते हैं कि यदि तुम चाहो तो किसी युवक से यौवन का परिवर्तन कर सकते हो। ययाति अपने पुत्रों से यौवन माँगता है और उसका सबसे छोटा पुत्र पुरु उदारतापूर्वक तैयार हो जाता है और फिर युवा ययाति देवयानी और वृषपर्वा के साथ इन्द्र को जीत लेता है और इन्द्रासन पर बैठना चाहता है। विजय के पश्चात् ययाति और वृषपर्वा में झगड़ा होता है जिसमें वृषपर्वा मारा जाता है और अन्त में जब ययाति के सम्मुख इन्द्र बन्दी करके लाया जाता है तब इन्द्र ययाति से वज्र छीनकर उसे नीचे ढकेल देता है।

पाताल की घाटी में मृतक वृषपर्वा भी पड़ा है और मूर्छित ययाति

भी। उस युद्ध-क्षेत्र मे देवयानी सबको कोसती हुई घूम रही है। ययाति की आँख खुलती है और वह अपनी कठोर पत्नी को देखकर डर जाता है।

इन्द्र अपनी विजय घोषणा करता है और देवयानी से कहता है कि तुम्हारा विवाह ययाति से हुआ है तुम्हें पाताल छोडकर अपने पति के परिवार वालो के साथ रहना चाहिए, किन्तु देवयानी जाने को उद्यत नहीं होती है और वह अपने पिता के साथ चली जाती है जहां उसके पिता उसे पुत्र के समान मानकर रख लेते हैं

(आ) पुरन्दर पराजय—नाटक—इस नाटक मे वह पौराणिक कथा ली गई है जिसमे सुकन्या ने अश्विनो को वरण करने की चेष्टा की थी। भृगु-मुख्य च्यवन जब इन्द्र से युद्ध कर रहे थे तब इन्द्र ने उन्हे वृद्ध होने का शाप दे दिया। भृगुवंशियो ने अपना वंश चलाने के लिए शार्यातो के राजा की कन्या सुकन्या से वृद्ध च्यवनका विवाह करा दिया। किन्तु उसे वृद्ध च्यवन का साथ अच्छा नही लगा और वह अश्विनों की ओर प्रवृत्त हुई, किन्तु सहसा जब एक पतिता नारी उससे प्राण-रक्षा की प्रार्थना करने आई तब वह इतनी प्रभावित हुई कि उसमें अपनी आत्म-मर्यादा जाग्रत हो उठी और उसने अश्विनो को लौटा दिया। सुकन्या के इस सुचरित्र पर प्रसन्न होकर अश्विनो ने च्यवन को यौवन प्रदान कर दिया। इस कथा की विशेष सामग्री अथर्व वेद के अभिचार मंत्रों से ली गई है।

(इ) अविभक्त आत्मा—नाटक—इस नाटक मे वशिष्ठ और अरुन्धती के प्रेम का वर्णन है। प्रसिद्ध सप्तर्षिओ मे वशिष्ठ की भी गणना होती है और उनकी पत्नी अरुन्धती को भी सप्तर्षि के वशिष्ठ ग्रह के पास मुख्य स्थान मिला है। श्लोक मे प्रसिद्धि है—

> दीप निर्वाणगन्धञ्च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम्।
> न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः॥

(दिया बढ़ाने के समय उसकी गन्ध जो सूँघ नहीं पाता, अपने प्रिय मित्र की बात पर जो कान नहीं करता और अरुन्धती तारे को जो

देख नही सकता तो समझना चाहिए कि उसको आयु पूरी होने वाली है।)

मंगल कार्यों मे भी वशिष्ठ और अरुन्धती की पूजा की जाती है और गुजरात में यह प्रथा भी है कि विवाह होने के पश्चात् दम्पति को अरुन्धती-वशिष्ठ के दर्शन कराए जाते हैं और उन्हें गृहस्थी का देवता भी माना जाता है। यहाँ तक कि महादेव जी को भी अपने विवाह में अरुन्धती के दर्शन करने पड़े थे।

इस नाटक मे पति और पत्नी की अविभक्तता या एकता का वर्णन किया है। उस समय आर्यों के जीवन का प्रभाव युग था। वे मेरु पर्वत पर रहते थे किन्तु वरुण देव के क्रोध से जब वहां हिम वर्षा होने लगी तो वे दूसरे देशो की ओर बढ़ने लगे। वैवस्वत मनु ने उन पाँच आर्य जातियो की रक्षा की थी जो इधर-उधर घूम रही थी। वरुण ने प्रतिज्ञा की थी कि जब सातो महर्षि प्रकट होंगे तभी आर्य जाति स्थिर हो सकेगी। छः महर्षि उत्पन्न हो चुके थे और आर्यों को यह भय था कि वरुण के कथनानुसार यदि सौ वर्षों के बीच सातवे महर्षि उत्पन्न नहीं हुए तो आर्यों का विनाश हो जायगा। उस समय ऋषि वशिष्ठ तपस्या कर रहे थे और उन्हे यह आशा थी कि 'अग्निदेव उन्हे सातवाँ ऋषि चुन लेगे। उधर मेधातिथि की कन्या अरुन्धती भी इसी उद्देश्य से संयमपूर्ण तप कर रही थी। और इसी बीच अग्निदेव ने भावी महर्षि के रूपको प्रदर्शित करने का निश्चय भी कर लिया था।

आर्यावर्त मे सरस्वती नदी के किनारे मेधातिथि के आश्रम मे वशिष्ठ और अरुन्धती दिखाई पड़ते है। वही पर वशिष्ठजी, अरुन्धती से मिलने आते है और अपनी प्रशंसा सुनकर वे कहते हैं कि मै मंत्र-रचयिता नहीं हूं। न जाने कैसे समाधि के समय मंत्र स्वयं दृष्टि गोचर होने लगते हैं। इसी बीच पुलस्त्य ऋषि के यहाँ ऋतु ऋषि आते हैं और सातवे महर्षि के प्रकटनार्थ यज्ञ करने का विचार करते हैं। यही पर ऋतु से वशिष्ठ कहते हैं—"मै जिसे शान्ति का पाठ पढ़ाता हूँ वह शक्ति

से उत्पन्न होती है और वरुण देवता का उसमे आशीर्वाद भरा रहता है।

दूसरे अंक मे वशिष्ठजी अरुन्धती से विवाह करना चाहते है किन्तु अरुन्धती तपस्या को गृहस्थी से श्रेष्ठ मान कर विवाह के प्रस्ताव को अस्वीकार करती है। इस पर वशिष्ठ अविभक्त आत्मा होने की अर्थात् दोनों के आत्मा को एकरस बनाने की बात करते है, इस पर अरुन्धती अपने मन की बात बता देती है और कह देती है कि मै सातवें महर्षि का पद लेना चाहती हूँ। यह सुनकर वशिष्ठ अपनी महत्वाकांक्षा का बलिदान कर देते हैं और चाहते है कि अरुन्धती ही उस पद के लिए निर्द्वन्द्व होकर प्रयत्न करे।

चारो ओर यह लोकापवाद होने लगता है कि वशिष्ठ अपने को और अरुन्धती को एकात्म मानते हैं। पुराने महर्षि इस पर बिगड़ खडे होते हैं। इसी बीच ऋतु और पुलस्त्य के यज्ञ मे अग्नि के द्वारा सातवे ऋषि के रूपमे वशिष्ठ का प्रतिरूप झलकता है और वशिष्ठ ही सातवे ऋषि चुन लिए जाते है। किन्तु वशिष्ठ यह पद अस्वीकार कर देते है। वे तर्क करते है कि देवताओ ने मेरी और अरुन्धती की एकात्मता को स्वीकार नहीं किया है और इसलिए मै भी यह पद नही स्वीकार करता। महर्षियो के शाप से वशिष्ठ अकेले रह जाते हैं, उनके शिष्य उन्हे छोड़कर चल देते है, यहाँ तक कि उनकी गाएँ भी डरकर भाग जाती हैं। यह देखकर वशिष्ठ विह्वल होकर वरुण की दुहाई देते हुए मूर्च्छित होकर गिर जाते हैं। जिस समय अरुन्धती और मेधातिथि वशिष्ठ को महर्षि पद के लिए बधाई देने आते है उस समय वशिष्ठ उन्हे मूर्छित पडे मिलते हैं। इतने मे बहुत से लोग उनका आश्रम जलाने दौडे आते है। अरुन्धती इस बलिदान का कारण समझ जाती है और वशिष्ठ को नाव मे बैठा कर कहती है—हम एक हैं और एक ही रहेगे।

आर्यावर्त से बहुत दूर वशिष्ठजी अपनी एकात्मता के नियम में बँधे

हुए एक गौ, अरुन्धती और अपने नन्हें से बच्चे को लेकर सुखसे आश्रम में निवास करते हैं। उधर आर्यावर्त में अकाल पड़ जाता है और सभी इसका दोष वशिष्ठ के सिर मढ़ रहे हैं। यहाँ तक कि एक व्यक्ति आकर वशिष्ठ को घायल कर देता है और वरुण देव भी वशिष्ठ को स्वर्ग में ले जाना चाहते हैं। किन्तु अरुन्धती रोती है और कहती है—'हम अविभक्त आत्मा है, हमें दोनो को साथ ले चलिए। इसी बीच फिर यज्ञ होता है जिसमें वशिष्ठ और अरुन्धती दोनों एक साथ सातवें ऋषि के रूपमें प्रकट होते हैं। किन्तु जब अन्य महर्षिगण वशिष्ठ को ढूँढने आते है तो वे मृत मिलते हैं, किन्तु वहां वरुणदेव को देखकर उनसे वशिष्ठ की प्राण-भिक्षा माँगते हैं। अविभक्त आत्मा वशिष्ठ और अरुन्धती सातवे महर्षि का पद ग्रहण कर लेते हैं और सप्तसिन्धु मे आर्य जाति सुखी और धनधान्यपूर्ण होकर रहने लगती है।

यही कारण है कि अरुन्धती को भी सप्तर्षि ग्रहमें स्थान मिला है।

लोपा मुद्रा और अन्य कृतियां

: २ :

विश्वरथ (उपन्यास)

आर्यो की हैहय शाखा के प्रसिद्ध सरदार महिष्मत् सुदूर अनूप देश (वर्तमान गुजरात) मे शासन करते थे । उनके पुरोहित भृगु-वंशी ऋचीक थे जो अपने को शुक्र और च्यवन के वंशज बतलाते थे। महिष्मत् और उसके दुर्दान्त हैहयवंशी यह नहीं चाहते हैं कि ऋचीक का उन पर नैतिक अधिकार रहे। फलत ऋचीक उन सब हैहयों को शाप देकर आर्यावर्त मे चले जाते हैं। वहां से चलकर ऋचीक वीर भरतो के राजा गाधि के पास पहुँचते है और उनकी कन्या सत्य-वती से विवाह कर लेते हैं। उनसे जमदग्नि नाम का पुत्र उत्पन्न होता है। इसी समय सत्यवती की माता भी एक पुत्र को जन्म देती है और उसका नाम विश्वरथ रख दिया जाता है। विश्वरथ और जमदग्नि साथ-साथ पढते है। जब वे सात वर्ष के होते है तो वे दोनो भरद्वाज की कन्या लोपामुद्रा से प्रेम करने लगते हैं। उसके पिता जिस विवाह का प्रस्ताव करते हैं उसे लोपामुद्रा अस्वीकार कर देती है और अपने पिता के क्रोध से बचने के लिए भृगु ऋचीक की शरण लेती है। युवक विश्व-रथ और जमदग्नि दोनो प्रगाढ़ मित्र होने के कारण चाहते हैं कि लोपा-मुद्रा से दोनो का विवाह हो। वे यह जानकर अत्यन्त उद्विग्न हो जाते हैं कि लोपामुद्रा उन मे से किसीसे विवाह नही करना चाहती।

कुछ बडे होने पर ये दोनों तृत्सुराट् दिवोदास के पुरोहित तेजस्वी आर्य ऋषि अगस्त्य के पास पढ़ने भेज दिए जाते है। मार्ग में उन्हें दिवोदास का कुटिल पुत्र सुदास मिलता है जो विश्वरथके स्पष्ट व्यवहार और सौन्दर्य से कुढ़कर उसे पानी में डुबो देना चाहता है।

अगस्त्य ऋषि के आश्रम में विश्वरथ उन सबका प्रिय पात्र हो जाता है जिनमें अगस्त्य ऋषि की छोटी-सी कन्या रोहिणी भी है और मूर्ख ऋत्त भी है जो स्वयं महर्षि बनने की धुन मे है । भार्गव जामदग्नेय तो मानों उसका अभिन्न मित्र है ही । विश्वरथ की प्रतिभा से अगस्त्य भी बड़ेप्र सन्न हैं और उन्हे यह जानकर हर्ष होता है कि विश्वरथ भी अत्यन्त शीघ्रता से वैदिक मंत्रों पर अधिकार प्राप्त कर रहे हैं । उसी आश्रम मे सुदास भी अध्ययन करता है और विश्वरथ को परास्त करने का निष्फल प्रयत्न भी करता है । अपने सुचरित्र, सौन्दर्य और मृदुल व्यवहार से विश्वरथ केवल सुदास को छोड़कर शेष सबको प्रभावित कर लेता है ।

एक दिन राजा दिवोदास अगस्त्य ऋषि के आश्रम में आये और वहां अगस्त्य ऋषि ने अपने चातुर्य का प्रदर्शन किया जिसमे विश्वरथ विजयी हुआ और विजयी होने के साथ-साथ सुदास का कोप-भाजन भी बन गया ।

राजा दिवोदास किसी भी प्रकार अनार्य दस्युओ के राजा शम्बर को समाप्त करके उसके दुर्गों पर आधिपत्य कर लेना चाहता है। अगस्त्य भी क्रोधी स्वभाव के है और किसी भी प्रकारकी सन्धि स्वीकार नहीं करना चाहते । उन्हें आर्य जाति की पवित्रता और शुद्धता में पूर्ण विश्वास है और उसी आधार पर वे दस्युओ का विनाश कर देना चाहते हैं । वे उन आर्य युवा ऋषिओ के परम विरोधी हैं जो दस्युओ को आर्य बना लेने के पक्ष मे हैं । इस सुधारक युवा मण्डल की सबसे अधिक शक्तिशालिनी और सुन्दर नेत्री है लोपामुद्रा—भरद्वाज की कन्या, जो अभीतक अविवाहित और अनिन्द्य सुन्दरी है। उसकी इच्छा है कि इन दोनो योद्धा जातियों में परस्पर समझौता हो जाय । इसलिए अगस्त्य ऋषि विशेषरूप से उसी पर रुष्ट हैं और इसीलिए उनके सामने कोई लोपामुद्रा का नाम तक नही लेना चाहता ।

युद्ध होने लगता है और इसी बीच शम्बर के पक्ष वाले कुछ लोग

आश्रम में घुसकर विश्वरथ और ऋक्ष को पकड़ ले जाते हैं और उन्हें ले जाकर शम्बर के उस दुर्ग में रख देते है जिसमे शम्बर की पत्नी और शम्बर की कन्या उग्रा रहती है। उस दुर्ग का अधिकार उग्रकाल महादेव जी के भक्त भैरव के हाथ मे है। दुर्ग के दस्युओ ने विश्वरथ और ऋक्ष का बडा स्वागत किया और उग्रा ने विश्वरथ से प्रेम करना प्रारम्भ कर दिया। इस सब स्नेहपूर्ण व्यवहार का परिणाम यह हुआ कि विश्वरथ के मन से जातिद्वेष की भावना विलुप्त हो गई और वह दस्युओं से प्रेम करने लगा और ऋक्ष तो समझो एकदम बह गया। उसके लिए दस्यु समाज ही सब कुछ होगया और वहाँकी काली-कलूटी बालिकाएँ ही उसकी प्रेम पात्रा बन गईं। भैरव को ये सब बाते अच्छी नही लगती थी पर चारा ही क्या था। वह मन-ही-मन कुढ़ता था और समझता था कि इन्ही सब दुराचरणो के कारण दस्युओ का विनाश हो रहा है। विश्वरथ की स्वाभाविक स्नेहभावना उग्रा को और अधिक न रोक सकी और विश्वरथ ने उग्रा को सहधर्मिणी और सहचारिणी के रूप मे स्वीकार कर लिया।

: २ :

शम्बर कन्या (नाटक)

अपनी महाविजय के पश्चात् शम्बर लौटकर आता है और अपने दुर्ग के रक्षक उग्रकाल की पूजा करना चाहता है। उसीके साथ लोपामुद्रा भी आ गई है जिसे वह लाया तो है बन्दी बनाकर किन्तु जिसे वह अपना मित्र और हितू समझता है। शम्बर के दुर्ग मे आने पर विश्वरथ और लोपामुद्रा की भेंट हो जाती है और विश्वरथ उनको अपनी सब हीन दशा कह सुनाता है। विश्वरथ और लोपामुद्राकी घनिष्ठता देखकर उग्रा को अत्यन्त ईर्ष्या और क्षोभ होता है। उसी बीच युद्ध होने लगता है और शम्बर के पराजय का समाचार भैरव को मिलता है। वह तत्काल निश्चय कर लेता है कि दुर्ग की रक्षा के लिए, आर्यो को पराजित करने के लिए, और उग्रकालको प्रसन्न करनेके लिए लोपामुद्रा,विश्वरथ और ऋक्ष

का बलिदान करना ही चाहिए। वे तीनों रात को ही पत्थर से बाँधकर महाकाल मंदिर में खड़े कर दिए जाते है।

उग्रा को अपने प्रियतम को बलिदान किये जाने का समाचार पाकर बड़ी मार्मिक व्यथा होती है और वह चुपचाप गुप्त मार्ग से निकलकर दिवोदास और अगस्त्य ऋषि को सूचना दे देती है। प्रातःकाल होने से पहले ही तृत्सुओं और भरतो की सेना लेकर अगस्त्य पहुँच जाते हैं। विश्वरथ, ऋत्त और लोपामुद्रा मुक्त हो जाते है। दुर्ग पर अगस्त्य का अधिकार हो जाता है, भैरव न जाने कहाँ भाग जाता है और शम्बर भी घातक चोट खाकर गिर पडता है। शम्बर के समाप्त हो जाने पर अगस्त्य आज्ञा देते है कि उग्रा मुझे सौंप दी जाय। और वह अन्तिम दृश्य करुण भयानक और वीर रस का अद्भुत मिलन बन जाता है—

"विश्वरथ—(भयभीत दृष्टि से) गुरुदेव ! उग्रा मेरी है, आप उसे स्पर्श नही कर सकते।

अगस्त्य—(क्रोध से) मूर्ख न बनो, वत्स ! देवता के विरोधी लोग जीवित नही रह सकते। उसे मेरे हाथ मे सौंप दो।

उग्रा—(काँपती हुई) मैं अकेली हूँ, आपकी हूं। मुझे न छोडो, विश्वरथ !

विश्वरथ—(उग्रा से) शान्त हो जाओ, उग्रा ! (अगस्त्य से) गुरुदेव ! (उग्रा के आगे आकर खडा होजाता है।) क्या आप शम्बर कन्या को मुझसे छीनना चाहते हैं।

(दूसरी ओर तिरस्कार की दृष्टि से देखते हुए।)

अगस्त्य—(आगे बढ़कर) हट जाओ !

विश्वरथ— (अपनी जाति वालो से) प्रतर्दन और मेरे प्यारे वीर भरतो ! शम्बर कन्या मेरी रानी है। मैंने देवताओं की शपथ देकर उसे स्वीकार किया है। यदि आप लोगों के रहते इसका बाल भी बाँका हुआ तो तुम्हे मेरे पितरों का शाप लगेगा।

प्रतर्दन—(उग्रा के पास तक बढकर) जैसी देव की आज्ञा।

अगस्त्य—क्या तुम पागल हो गए हो ?

विश्वरथ—(भयावनी मुद्रा में) गुरुदेव ! मैं आपको स्पर्श नहीं कर सकता किन्तु आप मेरे उन प्राणों को ले सकते हैं जिनकी रक्षा शम्बर कन्या ने उग्रकाल से की है । हे मूर्तिमान क्रोध ! इस असहाय कन्या को मारने से पहले आप मेरे प्राण ले लीजिए । मैं शम्बर कन्या का प्रेमी हूँ। मै जीने योग्य नही हूँ । मार डालिए मुझे ! (स्थिर दृष्टि से अगस्त्य की ओर देखता है ।)

अगस्त्य—(अत्यन्त क्रोध से अपना शस्त्र उठाते हैं)तुम मेरा विरोध करने का साहस करते हो ?

लोपामुद्रा—(विश्वरथ और अगस्त्य के बीच में आकर) क्या कर रहे हो अगस्त्य ? क्या तुम्हारे क्रोध की ज्वाला इस निरीह बालिका के आँसुओ से भी नही बुझी ? (अगस्त्य की ओर देखती है, अगस्त्य रुक जाते है, हिचकते है और दो तलवारों की भिडन्त के समान उनकी दृष्टियाँ मिल जाती हैं ।)

लोपामुद्रा—क्या तुम एक ही वार से अपने पुत्र और अपनी पुत्र-वधू दोनो को समाप्त कर देना चाहते हो ?

अगस्त्य—(क्रोध से) तो तुम भी बाधा डाल रही हो ?

लोपामुद्रा—हाँ, मै|भी ।

[अगस्त्य का वह हाथ धीरे-धीरे नीचे गिर जाता है जिसमे करवाल थी ।]"

: २ :

देवदत्ता—(नाटक)

इस नाटक का प्रारम्भ दिवोदास की राजधानी तृत्सुग्राम मे होता है जहाँ तृत्सुओं और भरतो की सेना विजय सामग्री के साथ लौटती है । लोपामुद्रा भी उसी के साथ आई है और यहां आकर वह जातिभेद दूर करने की शिक्षा देती है । लोपामुद्रा के व्यक्तित्व से आकृष्ट होकर बहुत-से युवक लोपामुद्रा के साथ उनके आश्रम जाने को उद्यत हो जाते

हैं। विश्वरथ भी लोपामुद्रा का प्रिय शिष्य है और उसकी इच्छा है कि आर्य रीति से शम्बर कन्या का पाणिग्रहण कर लूँ। वह खुलकर कह देता है कि आर्यत्व जन्म से नहीं होता, स्वभाव से होता है और वह गुण अनेक आर्याओं की अपेक्षा उग्रा मे अधिक हैं। अगस्त्य को न तो लोपामुद्रा की लोकप्रियता ही अच्छी लगती है न विश्वरथ का हठ ही भाता है। वे प्रतिज्ञा कर लेते है कि यदि विश्वरथ उग्रा को मेरे हाथ नहीं सौंप देते है तो मैं अपने प्राण दे दूंगा। उधर विश्वरथ भी यह भयंकर प्रतिज्ञा कर लेता है कि यदि मैं उग्रा से विवाह न कर सका तो मै प्राण दे दूंगा। लोपामुद्रा इन दोनों गुरु-शिष्यों की सराहना करती है। उधर अगस्त्य की इकलौती कन्या रोहिणी पहले तो विश्वरथ को प्यार करती थी किन्तु अब विश्वरथ वन्दी हो गया तब उसकी सगाई तृत्सुओ के राजकुमार सुदास से हो गई। अब वह चाहती है कि सगाई किसी प्रकार टूट जाय और विश्वरथ से उसका विवाह हो जाय।

अगस्त्य और विश्वरथ के हठ को देखकर लोपामुद्रा ने अगस्त्य से क्षमा की भीख माँगी, विश्वरथ के प्राणों की भीख माँगी पर अगस्त्य टस-से-मस नहीं हुए। और इस पर लोपामुद्रा उनको बहुत कुछ सुना डालती है। उधर रोहिणी की सगाई तो सुदास से टूट गई किन्तु ऐसी विचित्र परिस्थिति उत्पन्न हो गई कि या तो उसे अपने पिता से हाथ धोना पडेगा या अपने प्रेमी से। इधर विश्वरथ की तप शक्ति तीव्रतर हो चली थी। देवताओं से उसका विचार विनिमय होने लगा था और वह बार-बार उनसे यही पूछता कि उग्रा आर्या क्यो नहीं है। उसने सूर्यदेव का आवाहन किया और उनके दिये हुए गायत्री मंत्र की सहायता से देवताओं ने उग्रा को आर्या स्वीकार कर लिया।

आर्यों के बीच में पड कर उग्रा के दुःखों का पार नहीं था। उसके सजातीय या तो मारे जा चुके थें या बन्दी बना लिये गए थे। वह भी केवल विश्वरथ के लिए जी रही थी। उसकी दशा पर द्रवीभूत होकर लोपामुद्रा ने फिर अगस्त्य से प्रार्थना की, किन्तु अगस्त्य तनिक भी द्रवित नहीं

हुए। इसी समय उग्रा के पुत्र उत्पन्न होता है और भविष्य को जानने वाली लोपामुद्रा तत्काल उस बच्चे को अगस्त्य के शिष्य अजीगर्त के सद्यःप्रसूत मृत पुत्र के साथ बदल देती है। वह जाने की तैयारी करती है और विश्वरथ को आश्वासन देती है कि मैं अगस्त्य को मना लूँगी।

आधी रात के समय वह अगस्त्य से मिलने जाती है और अगस्त्य भी विश्वरथ के हठ पर अपने प्राण देने का निश्चय करके भी अन्त समय में एक बार लोपामुद्रा से मिल लेना चाहते हैं। लोपामुद्रा के सौंदर्य को देखकर ऋषि अगस्त्य स्तब्ध रह जाते हैं। उनका सारा ज्ञान, आर्यों के संस्कार की शुद्धिका संकल्प लोपामुद्रा की मधुर मूर्ति और मधुर वाणीमें पिघलकर बह निकलता है। लोपामुद्रा उनसे वरदान माँगती है कि विश्वरथ को जीवित रहने दिया जाय किन्तु अगस्त्य को तत्काल अपनी प्रतिज्ञा स्मरण हो आती है और वे यह कहते हुए पीछे हट जाते हैं—'प्रिये! अपने स्वप्न से जाग जाओ। हमारे पथ अलग ही रहेंगे। यदि मेरा जीवन मिथ्या है तो मुझे जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं है।' इसी बीच उग्रकाल का पुरोहित भैरव न जाने कहाँ से आकर लोपामुद्रा को छुरा मारकर घायल कर देता है और वह पृथ्वी पर गिर पड़ती है। वह अगस्त्य पर भी आक्रमण करता है किन्तु ठीक उसी समय विश्वरथ पीछे से आकर भैरव को पकड़ लेता है। रोहिणी आकर यह सूचना देती है कि किसी ने उग्रा की हत्या कर डाली है। भैरव उल्लास से चिल्ला उठता है—"मैंने हत्या की है। उसने उग्रकाल को धोखा दिया है, और यह दूसरी है और यह तीसरी है," कहकर वह विश्वरथ पर टूट पड़ता है। किन्तु उससे भी अधिक फुर्ती के साथ विश्वरथ उसे पटक कर उसकी छुरी से उसे समाप्त कर देता है।

घायल लोपामुद्रा को अगस्त्य अपनी गोद में उठा लेते हैं। दिवोदास और वशिष्ठ आते हैं। लोपामुद्रा आखे खोलती है और अगस्त्य को देखकर उनसे लिपट जाती है—

"वशिष्ठ—यह क्या भाई?

अगस्त्य—(भावावेश में) वशिष्ठ! यह मेरी है। देवताओं ने मुझे दी है।"

: ४ :

विश्वामित्र ऋषि (नाटक)

सब दस्यु बन्दी हैं। तृत्सु ग्राममें बड़ी तनातनी चल रही है। दस्युओं पर विजय पानेवाली आर्य सेनाके दो दल हैं एक है दिवोदासके नेतृत्वमें काम करने वाले तृत्सु, और दूसरे हैं विश्वामित्र की सेनावाले भरत लोग। दिवोदास का पुत्र सुदास विश्वामित्र के पराक्रम से कुढ़कर दोनों जातियोंमें परस्पर द्वेषका बीज बो रहा है। अगस्त्य के भाई वशिष्ठ भी आर्यों की रक्त-शुद्धि के पक्षपाती हैं और इसलिए स्वभावतः उन्हें लोपा-मुद्रा से चिढ़ और विश्वरथ से घृणा है। लोपामुद्रा से अपने भाई अगस्त्य का विवाह और विश्वरथ से दस्यु कन्या के विवाह सम्बन्ध की बात सुनकर वे अपने शिष्यों को लेकर चल देते हैं। उधर बन्दी दस्युओं पर तृत्सु लोग अत्यन्त अत्याचार करते हैं। विश्वरथ को यह बात बहुत बुरी लगती है और वह अपने भरतों को आज्ञा दे देता है कि इस अत्याचार का विरोध किया जाय। परस्पर संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। अगस्त्य और लोपामुद्रा आर्यावर्त छोड़कर दक्षिण की ओर चले जाना चाहते हैं। उस गृहयुद्ध से विश्वरथ ऊब उठते हैं और तृत्सुओं तथा भरतों में समझौता करा देना चाहते हैं। देवताओं के द्वारा उसे मार्ग मिल जाता है, और वह राज्य छोड़कर ऋषि हो जाता है। अगस्त्य भी अपना पौरोहित्य पद छोड़ देते हैं और उनके स्थान पर विश्वरथ बुलाए जाते हैं। वे अब विश्वामित्र ऋषि होगए हैं। इस आत्मबलिदान का प्रभाव यह होता है कि तृत्सुओं और भरतोंका संघर्ष समाप्त होजाता है।

: ५ :

लोमहर्षिणी (उपन्यास)

उपर्युक्त घटना के बीस वर्ष बाद इस उपन्यास का प्रारम्भ होता है। विश्वामित्र पिछले सत्रह वर्षों से तृत्सुओं और भरतों के प्रधान पुरोहित रहे हैं। और वे सर्वोत्कृष्ट ऋषि माने

जाते रहे हैं। उसी तृत्सुग्राम मे भृगु ऋषि जमदग्नि भी रहते हैं, जहाँ शास्त्र और शस्त्र दोनों की शिक्षा देने की व्यवस्था है। सुदास की द्वेष भावना विश्वामित्र के प्रति वैसी ही है किन्तु वैर निकालने का उसे कोई अवसर नही मिलता।

तृत्सुग्राम मे आर्य और दस्यु मिलकर रहते है और वही पर शम्बर का त्र और उग्रा का भाई भेद भी छोटी-सी जागीर लेकर मस्त होकर घूमता है। सुदास निःसन्तान है। इसलिए उसका उत्तराधिकार उसके चचेरे भाई कृशाश्व को मिलने वाला है जिसका विवाह सोमक राजा की पुत्री शशियसी से हुआ है। किन्तु भेद गुप-चुप रीति से शशियसी से प्रेम गाँठना चाहता है। सब लोग इस बात को जानते थे परन्तु कहता कोई नही था। उसका दुष्परिणाम यह हुआ कि शशियसी की देखा-देखी अनेक आर्य ललनाओ ने दस्युओ के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लिये।

सुदास को छोटी बहिन लोमहर्षिणी पन्द्रह वर्ष की थी और भृगु जमदग्नि के चौथे पुत्र राम से स्नेह करती थी। उधर सुदास ने सोचा कि विश्वामित्र को हटाने का एक ही उपाय है और वह यह कि उनके स्थान पर वशिष्ठ को लाकर बिठा दिया जाय। किन्तु वशिष्ठने यह स्वीकार नही किया।

सुदास फिर वशिष्ठ से प्रार्थना करता है और वशिष्ठ केवल इस आश्वासन पर आने को तैयार है यदि सुदास आर्यो का और दस्युओ का सम्बन्ध रोक दे और आर्य स्त्रियों से सम्बन्ध रखनेवाले दस्युओ को मरवा डाले। सुदास सहमत हो जाता है और भरतो से लोहा लेने के लिए महिष्मती के राजा अर्जुन से अपनी बहिन लोमा का विवाह करने का निश्चय करता है। जब लोमा विरोध करती है तब उसे चपत लगा देता है। इस पर उसका साथी राम सुदास से भिड जाता है।

सुदास दस्युओं के विनाश की आज्ञा दे देता है। सैकड़ो दस्यु मारे जाते हैं। उनके घर जला दिये जाते हैं, और भेद तथा शशियासी के

गुप्त मिलन-स्थल पर धावा करने की योजना बनती है। किन्तु सेनापति वृद्ध के कौशल से वे दोनों बच जाते हैं। इसी बीच सुदास शशियासी को लेकर वशिष्ठ जी से मिलने जाता है और वहीं भेद पहुँचकर शशियासी को अपने घोडे पर बिठाकर ले भागता है। वशिष्ठ जी के आश्रम में यह कुकृत्य अक्षम्य अपराध है। वशिष्ठ तत्काल सुदास की प्रार्थना स्वीकार कर लेते हैं और दस्युओ के विनाश का व्रत लेकर संपूर्ण आर्यों के पुरोहित होकर तृत्सुग्राम में पहुँच जाते हैं।

उधर ऋषि जमदग्नि भी चाहते थे कि राम शुक्र, च्यवन और ऋचीक के समान प्रतापी ऋषि हो और इसीलिए उन्होंने राम को विश्वामित्र के आश्रम मे भेजना निश्चय कर लिया। वृद्ध को यह बात बुरी लगी और और राम भी वृद्ध के पीछे-पीछे घर से भागकर चल दिए। बीच में दस्युओ ने उसे पकड लिया, राम को बाँध लिया और उसके प्यारे घोड़े को मारकर खा गए। उनके सो जाने पर राम अपना छुटकारा करके किसी प्रकार पहाड से सरस्वती नदी मे कूद पडते हैं और उन पणिओं के हाथ मे पड जाते है जो सुन्दर लडको को पकडकर बेचने का व्यापार करते थे। उसी नाव में एक दूसरा बालक शुनः शेप भी था जिसने राम को अपनी सब कथा बता दी कि किस प्रकार केवल विद्या प्राप्त करने के लिए मैंने बारबार अपने को बेचा। वे दोनो निकल भागते हैं। राम बीच मे शुनः शेप को छोडकर भृगुग्राम की ओर बढ़ जाता है। वहाँ वृद्ध से भेंट हो जाती है जहां एक भेड़िए से लडकर राम मुमूर्षु अवस्था में पडा है।

उधर विश्वामित्रजी ने बीस वर्षों मे यज्ञ-क्रिया बदल दी थी और नरमेध बन्द होगया था। राजा हरिश्चद्र ने वरुणदेव को प्रसन्न करके यह वरदान माँगा कि पुत्र होने पर वह देव वरुण के नाम पर बलिदान कर दिया जाय। किन्तु हरिश्चन्द्र का पुत्र रोहित बडा हो चला। हरिश्चन्द्र बलिदान नहीं देना चाहते थे। वरुणदेव क्रुद्ध थे। उन्होंने विश्वामित्र की शरण ली। विश्वामित्र ने वरुण की चुनौती स्वीकार

करली। और अन्त में यह निश्चय हुआ कि रोहित के बदले किसी दूसरे की बलि भी स्वीकार की जा सकती है। इसी समय अजीगर्त इधर-उधर घूम रहा था और उसने सोचा कि शुनःशेपको देकर सौ गाएँ मिल जायंगी। किन्तु शुनःशेप को यूपकाष्ठ में बाँधने के लिए कोई उद्यत नही था। अजीगर्त आगे बढा। इसी के मृत पुत्र से लोपामुद्रा ने उग्रा के पुत्र की बदली की थी। जब लोपामुद्रा ने उस पुत्र की याचना की तो उसने अस्वीकार कर दिया था और इसी पर अगस्त्य ने शाप देकर उसे पदच्युत कर दिया था। उसी बालक शुनःशेप को लेकर अजीगर्त आया हुआ था। विश्वामित्र नरबलि नही चाहते थे इसलिए अजीगर्त ने चुप-चाप उनसे कहा कि यदि मुझे दो हजार गाएं और आश्रम मिल जाय और शाप हट जाय तो मै शुनःशेप को यूपकाण्ठ से बाँधूंगा भी नही और मारूँगा भी नहीं। विश्वामित्र ऐसा समझौता नही करना चाहते थे। अजीगर्त उन्हे धमकी देता है कि मै शुन.शेप का वास्तविक रूप प्रकट कर दूँगा। विश्वामित्र के मन में बडा द्वन्द्व होता है और वे स्वयं सत्य की रक्षा के लिए शुनःशेप का वास्तविक रहस्य कह देते हैं। ठीक बलिदान के समय राम आ खडे होते हैं और शुनःशेप की रक्षा हो जाती है।

विश्वामित्र की पत्नी रोहिणी यह जानकर अत्यन्त क्रुद्ध हो जाती है कि उग्रा का पुत्र जीवित है और बडे होने पर राज्य का वही अधि-कारी होगा। भरत लोग अत्यन्त असन्तुष्ट हैं क्योंकि वशिष्ठ के आदेशों की और भेद द्वारा शशियासी को भगा ले जाने की कथा यहाँ तक पहुँच गई है। किन्तु विश्वामित्र तनिक भी विचलित नहीं होते। वे सत्य की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। वे रोहिणी के पुत्र देवदत्त को भरतों का राज्य देकर और अपना पद छोडकर बन मे चले जाते है। शुनःशेप भी उन्हींके पीछे-पीछे चल देता है।

इधर जब विश्वामित्र यज्ञ में व्यस्त हैं उस समय माहिष्मती के अर्जुन की सहायता लेकर सुदास आर्यावर्त्त पर आक्रमण कर देता है।

अर्जुन भी लोमा से विवाह करने की व्यग्रता मे उसका साथ देता है, और मार्ग मे ही वह उस दल को बन्दी कर लेता है जिसमें रेणुका, राम और लोमा तीनो हैं। ऋषिपत्नी और ऋषिपुत्र के बन्दी होने का समाचार पाकर भरत और भृगु उनकी रक्षा के लिए दौड़ पड़ते है और उसी झमेले में लोमा को लेकर राम तृत्सुग्राम की ओर भाग खड़ा होता है जहां उसके इस व्यवहार पर वशिष्ठ भी बडे क्रुद्ध होते हैं। अर्जुन लोमा को बलपूर्वक अपनी पत्नी बनाना चाहता है किन्तु राम बीच में आकर अर्जुन को पछाड देता है। और किसी प्रकार अर्जुन के हाथ से राम की रक्षा हो जाती है।

राम और लोमा को लेकर भद्रश्रेण्य लौटकर सौराष्ट्र चला जाता है।

: ६ :

भगवान् परशुराम (उपन्यास)

इसमे मुंशीजी ने अपनी प्रतिभा, और लेखन-शक्ति एक साथ लगा दी है। स्वयं भार्गव ब्राह्मण होने के कारण अपने पूर्व पुरुष में इतनी निष्ठा आवश्यक भी थी और स्वाभाविक भी। जिस महावीर ने इक्कीस बार अपने शास्त्र बल से भारत के अर्जास्वित किन्तु मदान्ध क्षात्र बल को परास्त किया हो उसकी वीरता हमारे साहित्य में उतने साहस के साथ और विस्तार के साथ नही लिखी जासकी जितनी उस वीर की मर्यादा के अनुरूप लिखी जानी चाहिए थी। उसका संभवतः कारण यह रहा हो कि हमारे लेखक ऐसी कथा को प्रोत्साहन देकर ब्रह्म क्षत्र संघर्ष उत्पन्न नही करना चाहते थे और पीछे के अवतारो ने—राम और कृष्ण ने ब्रह्म-क्षत्र शक्ति के समय से जो सामाजिक और राजनीतिक शक्ति संघटित की थी उसके विघटित होने का भी भय था। किसी भी साधारण लेखक के लिए पथ भ्रष्ट होकर बहक जाना और जातिगत पक्षपात में लिप्त हो जाना कठिन नहीं था किन्तु मुंशीजी ने अपने निराले कौशल से इस पक्षपात को बचाते हुए जिस परशुराम का

चरित्र अपने भगवान् परशुराम में खींचा है उसमें परशुराम की भगवत्ता और महत्ता उनके त्याग, बलिदान और तप के प्रभाव से मण्डित होकर उस अकारण क्रोध तथा अनियमित कलहप्रियता से कलुषित नहीं की गई जिसका अन्य लेखकों ने परशुराम में आरोप किया है। मुंशीजी के भगवान् परशुराम की कथा इस प्रकार है—

काठियावाड के गिरनार पर्वत की छाया मे राजा भद्रश्रेण्य की अधीनता में एक छोटी-सी दरिद्र यादव जाति बसी हुई थी। भद्रश्रेण्य बचपन में अपने भतीजे अर्जुन का अभिभावक रहा था और उसकी सेना का अधिनायक। घर लौटने पर अर्जुन को ज्ञात हुआ कि रावण ने नर्मदा के दक्षिण तट पर चढ़ाई कर दी है।

वह सीधा माहिष्मती चला जाता है और वहाँ भद्रश्रेण्य को सेनापति पद से हटाकर यह आज्ञा देता है कि जब तक मैं युद्ध से लौटकर न आऊँ तब तक राम और लोमा को बन्दी कर रखो। अर्जुन जब युद्ध में व्यस्त रहता है उस समय राज्य का शासन उसके चाचा भद्रश्रेण्य करते हैं, उसकी स्वामिभक्त प्रियतमा मृगा करती है और प्रधान पुरोहित भृकुण्ड करते हैं। ऋचीक के चले जाने के पश्चात् भृकुण्ड को ही माहिष्मती का पुरोहित बना दिया गया है। वह राजनीति भली भाँति जानता था किन्तु विद्या और पौरोहत्य से उसका परिचय तक न था। उसका शिष्य कुचि यादवों का पुरोहित था और भृकुण्ड का गुप्तचर था।

इन्हीं यादवों के बीच अकाल के दिनों में राम और लोमा को भद्रश्रेण्य ले आए और राम का ऐसा प्रताप हुआ कि भद्रश्रेण्य के पुत्र मधु और प्रतीप उसके भक्त होगए। उधर कुचि भी भद्रश्रेण्य के मार्ग में बाधाएँ डालने लगा और उसने चारों ओर यह कहला दिया कि राम को यहाँ लाने से ही अकाल पड गया। राम भी तो जमदग्नि के पुत्र थे, अपने को ऋषि समझते थे। उन्होंने गिरनार पर जाकर वरुणदेव का आराधन किया और धुंआधार वर्षा होने लगी। वहां से उतरकर

राम ने यादव-पुत्रों का संगठन प्रारम्भ कर दिया। उन्हीं का राज्य चलने लगा। इधर लोमा भी राम के प्रति आकृष्ट होने लगी और राम भी जब देखते हैं कि भृकुण्ड की पत्नी रुक्मिणी उससे प्रेम करने लगी है तो वह लोमा से कह देते है कि तुम्ही मेरी पत्नी हो और दोनो का वह प्रेम दृढ़तर हो जाता है। राम के प्रबन्ध से यादव शक्तिशाली हो जाते हैं और इसी बीच माहिष्मती से आज्ञा लेकर यहां का राजपुरोहित बुधि शार्यातों की सहायता से भद्रश्रेण्य को मार डालने का और उसके छोटे पुत्र मधु को सिंहासनस्थ करने का षड्यंत्र करने लगता है। राम को जैसे ही यह सूचना मिलती है, वह शार्यातो पर आक्रमण करके उन्हे समाप्त कर देता है और भद्रश्रेण्य उनके राजा बन जाते है। इस मारकाट का समाचार अर्जुन की प्रियतमा मृगा को मिलता है और वह राम, लोमा और भद्रश्रेण्य को निमंत्रण देती है। ये लोग निमंत्रण तो स्वीकार कर लेते हैं किन्तु प्रतीप को राम यह आज्ञा देते हैं कि यादवो को लेकर हमारी ससुराल चले जाओ अन्यथा मृगा का क्रोध यादवों को समाप्त कर देगा। माहिष्मती में जाकर राम नर्मदा के तट-पर पशुपति मंदिर मे भृकुण्ड के साथ ठहरते हैं। मृगा उसे देखने आती है। वह राम पर मुग्ध हो जाती है और राम को भोजन के लिए निमंत्रित करती है। वहाँ राम की प्रेरणा से मृगा के मन में अधिकार का मद उत्पन्न हो जाता है। सारा नगर राम की पूजा करता है और लोमा सबकी माता बन गई है। किन्तु मृगा भद्रश्रेण्य को क्षमा नहीं करना चाहती। इसलिए राम चुपचाप उन्हे प्रतीप के साथ भेज देते हैं। शार्यातों मे अकेले बचे हुए ज्यामघ ने राम को मारने की प्रतिज्ञा की और वह अघोरी का वेश बनाकर रात को राम की हत्या करने आता है। राम की आँख खुलती है और राम के वचनो से शिथिल होकर ज्यामघ के हाथ की छुरी नीचे गिर जाती है और वह प्राण लेकर भाग खड़ा होता है।

रावण को जीतकर जब अर्जुन लौटता है तो वह सब कथाएँ

सुनता है। मृगा से भी उसकी प्रशंसा सुनकर उसका क्रोध उबल पड़ता है और वह मृगा को आहत करके सब भृगुओ का विनाश करने की आज्ञा देते हुए कहता है—'राम को पकड़ लाओ, मै उसका वध करूँगा।' मृगा से यह समाचार पाकर भी राम विचलित नही होते। वे लोमा को भृगुओ के साथ भेज देते हैं और बन्दी होकर रस्सियो मे बंधे हुए राम अर्जुन के सम्मुख खड़े किये जाते हैं। जैसे ही अर्जुन उन्हें मारने को हाथ उठाता है वैसे ही राम अपना स्वर ऊंचा करके कहते हैं—'मैं तुम्हारी रक्षा करनेके लिए आया था। तुमने मेरी सहायता स्वीकार नहीं की तो जाओ नरक में,जहां नीच-से नीच प्राणी भी नही जा सकते।' अर्जुन का हृदय कांप उठता है। सिपाहियो के हाथ से तलवारे गिर जाती है और उसका नया सेनापति भी राम की रक्षा के लिए सन्नद्ध हो जाता है। राम एक कोठरी मे डाल दिए जाते हैं जहां मृगा और अर्जुन के नये सेनापति आकर विनय करते हैं कि आप चले जाइए। अर्जुन और उसके सेनापति के देखते-देखते राम उस राजभवन से चल देते हैं।

वहाँ से चलकर राम चक्रतीर्थ पहुंचते हैं। ज्यामघ उनकी नाव में छेद कर देता है, नाव डूब जाती है। ज्यामघ उन्हें मारने के लिए पीछा करता है, एक विशाल मगर मुंह खोले ज्यामघ को निगल जाना चाहता है। राम के परशु से आहत होकर मगर भाग जाता है और चक्रतीर्थ के अघोरी लोग राम और ज्यामघ दोनो को बन्दी कर लेते हैं। लोमा भी उन्हे ढूँढती हुई इन अघोरियो के नेता डड्डुनाथ तक पहुँचती है। इससे पूर्व वह अघोरियो की सब विद्याओं से परिचित हो चुकी है और उन पर अधिकार प्राप्त कर चुकी है। वह भी श्मशान मे जाकर श्मशान साधने लगती है और फिर डड्डुनाथ के आने की बाट जोहती हुई वृक्ष पर चढ़ जाती है किन्तु डड्डुनाथ से भेंट नही होती। हाँ, माँझियो से उसे यह समाचार मिल जाता है कि एक लम्बा तगड़ा गोरा व्यक्ति अघोरियो में घूमता फिरता है। उसे नई युक्ति सूझती है

और वह अर्जुन को सूचना दिला देती है कि अघोरियों ने राम को अपना गुरु मान लिया है। अर्जुन यह सुनकर सब अघोरियों को यातना देना प्रारम्भ करता है। डड्डुनाथ क्षुब्ध हो उठता है और माहिष्मती में उपद्रव प्रारम्भ कर देता है। मृगा को यह ज्ञात होता है कि लोमा ने ही डड्डुनाथ को प्रसन्न करके यह काण्ड प्रारम्भ कराया है। डड्डुनाथ तथा अर्जुन की संधि हो जाती है। किन्तु अर्जुन अब भी बदला लेना चाहता है।

लोमा ने डड्डुनाथ को प्रसन्न करके यह जान लिया है कि परशुराम अघोरियों के साथ है और डड्डुनाथ ने वचन भी दिया है कि वे लोमा को वहां ले जायँगे। नियत दिन पर डड्डुनाथ आते हैं। अर्जुन आक्रमण करना चाहता है और यदि लोमा ने प्रार्थना न की होती तो डड्डुनाथ ने अर्जुन के प्राण ही ले लिये थे।

राम और लोमा फिर से मिल जाते हैं और डड्डुनाथ का आश्रय लेकर ये लोग पुनः वहां से चल देते है। उधर अर्जुन ने भृगुओं और यादवों के विनाश की आज्ञा दे दी है और भद्रश्रेण्य तथा यादवों का पीछा करने के लिए बड़ी भारी सेना भेज दी है। राम यह निश्चय करते हैं कि यादवो से मिलकर उन्हे मरुभूमि से पार आर्यावर्त में पहुंचा दे।

माहिष्मती मे पहुंचकर मृगा से उनकी भेंट होती है। वह अपने जीवन से ऊब गई थी किन्तु फिर भी वह राम के साथ आर्यावर्त जाने को उद्यत नहीं थी। किन्तु राम से वरदान माँगकर वह राम की कन्या भृगुकन्या हो गई। रात को जब अर्जुन उसके पास आता है और उसे पकड़ना चाहता है तो वह राम का नाम लेकर आत्म-हत्या कर लेती है।

मरुभूमि के कष्ट सहते हुए सब यादव सरस्वती के तट पर पहुँच जाते हैं किन्तु नदी पार होने से पहले ही पीछा करने वाली सेनाएं उन्हे बन्दी कर लेती हैं। बड़ी मुठभेड होती हैं किन्तु राम और उनके बहुत

के साथी सरस्वती पार करके आर्यावर्त पहुँच जाते हैं। यहां आने पर राम को समाचार मिलता है कि एक ओर सुदास और वशिष्ठ का युद्ध हो रहा है दूसरी ओर विश्वामित्र और दस राजाओं का युद्ध चल रहा है। राम के दो भाई मारे जा चुके है। उसकी माँ रेणुका गंधर्वों के राजा के पास चली गई है। जमदग्नि पागल हो गए है। अपने पुरुखाओ की भूमि भृगुग्राम में पहुचकर राम चारो ओर उजाड देखते हैं। जमदग्नि अविश्वास करते हुए भी राम से कहते हैं कि जिस पत्नी ने पति को छोडा है उसको मार डालना होगा। राम गन्धर्व लोक जाते हैं, माता से मिलते है, माता को मारना चाहते हैं किन्तु वहां की परिस्थिति से प्रभावित होकर रेणुका की इच्छा न रहते हुए भी रेणुका को उठा लाते है।

मार्ग में राम को ज्ञात होता है कि भेद मारा गया, विश्वामित्र का पता नही है, राम के बड़े भाई भी खेत आए, सुदास जीत गया, भेद की पत्नी बन्दी कर ली गई और वशिष्ठ ने अपना व्रत पूरा कर लिया। राम और वशिष्ठ की भेट होती है। वशिष्ठ द्वेष छोडकर अपने प्रतिद्वन्द्वी विश्वामित्र को ढूंढ रहे है। ऋत्त युद्ध क्षेत्र मे से प्रयत्न करके विश्वामित्र को उठा ले जाता है किन्तु अशक्त होने के कारण बीच में छोड देता है। राम आकर विश्वामित्र को ढूंढ लेते हैं। और उन्हीं की गोद में विश्वामित्र अपने प्राण छोड़ देते हैं।

राम भी अपनी माता का वध करने के लिए अपने पिता के पास पहुच जाते हैं और जब पिता की आज्ञा से राम अपना परशु उठाते हैं तो सहसा जमदग्नि सावधान हो जाते हैं और कहते हैं—"रेणुका,रेणुका, तुम्हारी मृत्यु हो गई, तुम्हारे पुत्र ने तुम्हे जिला लिया, अपना परशु फेक दो राम! मै अपनी आज्ञा लौटा लेता हू, रेणुका!" और रेणुका बच जाती है। अब सुदास ही आर्यावर्त के सम्राट हैं और वशिष्ठ वहा के आध्यात्मिक नेता। इसी बीच लोमा किसी प्रकार सुदास के भवन से भेद की विधवा को बचा लेती है और राम उसके छोटे बच्चे को दक्षिण

आर्यावर्त के जङ्गलों में प्रतिष्ठित कर देते है। राम को वशिष्ठ के द्वारा सुदास का पौरोहित्य करने का निमन्त्रण मिला किन्तु रामने अस्वीकार कर दिया और भृगुओंका संगठन प्रारम्भ किया। उधर रामसे बदला लेने के लिए अर्जुनने आर्यावर्त पर चढ़ाई कर दी। वशिष्ठके पौत्र पराशर ने राजाओं से प्रार्थना की कि आप लोग अर्जुन से युद्ध न करें किन्तु किसी ने उन्हे सुना नहीं। रामके कहनेसे आर्यावर्त के लोग उत्तर चले गए, इसलिए वह वशिष्ठ के आश्रम मे पहुंचा और वहां जैसे ही वह एकाकी वशिष्ठ को पकड़ने के लिए दौड़ा त्यों ही देखा कि वशिष्ठ जी समाप्त हो गए हैं। अब अर्जुन जमदग्नि के आश्रम की ओर बढ़ा और आश्रम पर अधिकार कर लिया। वह चाहता था कि जमदग्नि अपना शाप हटा ले। जमदग्नि वृक्ष मे बाँध दिये गए और शाप न हटाने पर उन्हे नित्य एक बाण से घायल किया जाता था। किन्तु वे अटल थे। केवल रेणुका उनकी सेवा कर रही थी और रो-रोकर राम को पुकारती थी। राम आते हैं, अर्जुन का वध हो जाता है और यही परशुराम की कथा समाप्त हो जाती है।

: ७ :

तर्पण (नाटक)

इसकी विषय सामग्री कुछ इस प्रकार की है कि इसे पौराणिक नाटकों के उपसंहार के रूप में रखना समुचित होगा। उसकी कथा इस प्रकार है—

वृद्ध राम देवताओ की भाँति अब सूर्पारक मे निवास करने लगे हैं। अर्जुन के पुत्रों और पौत्रों के अधीन हैहय लोग फिर भारत पर आक्रमण कर देते है, सब आश्रमो को नष्ट कर देते हैं और भृगुओ का विनाश करके उन्हे निर्वीर्य कर देते है। एक भृगु स्त्री अपने एक बच्चे को अपनी जघा मे छिपाकर किसी प्रकार बचा लेती है और उस बच्चे का नाम पड़ जाता है और्व। वह आर्य विद्याएं अध्ययन करता है और आर्यावर्त के उत्थान के लिए जीवन उत्सर्ग कर देता है। पर्वत पर जाकर वह दृढ़-व्रती शिष्यों की सेना एकत्र करता है और उसीने आर्य राजत्व के एक

शेष बालक सगर की रक्षा करके उसका पालन-पोषण भी किया है।

और्व ने निश्चय किया कि हैहय राजा की अकेली लडकी सुवर्णा जिस नाव मे बैठकर जल विहार करने जा रही है उसे डुबा दिया जाय। नाव तो डूब जाती है किन्तु सगर उस डूबती हुई कन्या सुवर्णा को बचा लेता है, और उसके प्रेम मे पड जाता है। उसे यह नही ज्ञात है कि और्व ने जान-बूझकर ही यह नौका डुबाई थी। उधर हैहय राजा ने और्व के साथियो को पकड़ना प्रारम्भ कर दिया। सगर को अपने स्वामी और्व की योजना का कुछ भी ज्ञान नही है और वह नित्य नदी पार करके सुवर्णा से मिलने जाया करता है।

अन्त मे एक दिन पर्वतीय दुर्ग में और्व ने बड़ा भारी उत्सव किया और सगर को आर्यावर्त का राजा अभिषिक्त किया। उसी समय भगवान् राम से अपना परशु भेजने की प्रार्थना की। वायु में से होता हुआ परशु आता है और उसी समय और्व अपने जीवन का सब उद्देश्य सगर से कह सुनाता है। सगर को तो मानो काठ मार गया। वह मूक हो जाता है। उसी समय और्व गुरु दक्षिणा मांगता है।

और्व—तो कल प्रातःकाल सूर्योदय तक ले आओ।

सगर—(भयभीत होकर) क्या ?

और्व—दो सिर—एक वीतहव्य का और दूसरा वीतहव्यकी कन्या सुवर्णा का।

सगर कांप उठता है और वह प्रार्थना करता है कि सुवर्णा के प्राण न लिये जायं। इस पर और्व उसे हैहयो के कुकृत्य का पूरा विवरण सुना देता है। सगर हिचकिचाता है किन्तु और्व दृढ होकर आज्ञा देते है कि तुम इस अन्तिम हैहय को मारकर अपने पितरो का तर्पण करो।

इसी बीच हैहय राजा वीतहव्य ने सौराष्ट्र के राजा को सुवर्णा के विवाह के लिए निमंत्रण दिया और जिस समय यह उत्सव हो रहे थे उसी समय दूर पर खडा पहाड गडगडाने लगा। उसमे से लाल-लाल लपटें निकलने लगी और यह निश्चय हो गया कि और्व क्रुद्ध है।

सौराष्ट्र का अविवेकी राजा और्व से जूझने निकल पड़ता है और वहीं अन्धकार में मारा जाता है। इस घटना से सुवर्णाको यही सन्तोष होता है कि सगर के प्रयत्न से और्व और मेरे पिता के बीच संधि हो जायगी और वह मुझसे विवाह कर लेगा। वह सगरसे मिलने के लिए निश्चित स्थान पर जाती है। दोनो प्रेमी मिलते हैं और प्रेमवार्ता करते-करते सुवर्णा सो जाती है। सुवर्णा को दुःस्वप्न दिखाई देते है। सगर उस घबराहट मे शब्द सुनता है और सब कथा सुवर्णा को बता देता है।' ये दोनो भाग चलने को उद्यत हो जाते हैं, किन्तु छत पर ही राम का परशु लिए और्व खडे दिखाई देते हैं। चारो ओर लपटें जलती दिखाई दे रही हैं। दूर पर कोलाहल हो रहा है। और्व को देखते ही युवती मूर्छित होकर गिर जाती है। और्व अपने हाथ का परशु सगर के हाथ में दे देते हैं और आवेश मे परशु लेकर सगर जाते हैं और वीतहव्य का सिर काट लाते है। चारो ओर फिर लपटे दिखाई पडती हैं। और ज्यों ही सगर सुवर्णा का सिर काटने को झुकते हैं त्यों ही उसको मृत पाते है। इस पर सगर अपनी हत्या करने को उद्यत होते है किन्तु सगर के हाथ से परशु लुप्त हो जाता है। और्व तर्पण करने लगते हैं—स्वधा पितरस्तृप्यन्ताम्। और जब विजय स्वर मे और्व कहते है—देव आर्या-वर्त की जय हो, तो सगर भी सिर नीचा किये व्यथापूर्ण स्वर मे कहते हैं—आर्यावर्त की जय हो। और सब लोग विजय गीत गाते हुए निकल जाते है।

पौराणिक उपन्यासों और नाटकों का उद्देश्य स्रोत

इन सब पौराणिक नाटकों में दो बाते प्रधान रूप से दिखाई पडती है—एक तो यह कि आध्यत्मिक—परमार्थ विद्या की—उत्कृष्टतम श्रेणी पर पहुचे हुए ऋषि और मुनि भी मानवीय संस्थाओ और मानवीय विधानो मे लिप्त बने रहते है। नारी का सौन्दर्य उनकी तपस्या को भंग करता हुआ उनकी मानसिक वासनाओं को वैसे ही उद्वेलित करता है जैसे साधारण मनुष्य को। दूसरी बात यह है कि यूनान की जिन

पौराणिक गाथाओं ने वहाँके साहित्यमे वीर रसको भयानक और वीभत्स से आद्यन्त रँग रखा है ठीक वही बात मुंशीजीके पौराणिक कथानकों मे व्याप्त दिखाई देती है। हाँ एक विशेषता अवश्य है कि जहाँ यूनान को पैशाचिक रक्त-प्रवाह में एक विशेष प्रकार की जाति प्रियता और जातिगत प्रतिहिंसा की भावना प्रतिष्ठित है वहाँ इन पौराणिक उपन्यासो में जो प्रतिहिंसा की भावना है वह व्यक्तिगत द्वेष के कारण नहीं केवल जातिगत द्वेष के कारण। और जितना कुछ हत्याकाण्ड होता है उसके लिए देवताओं से प्रेरणा ली जाती है, उनकी सहायता की जाती है। और यह देवशक्ति मानव की प्रेरणाओ से शक्ति पाकर वैसा ही उच्छृंखल और भयावह हो जाती है। पुराण की सीधी-सादी घटनाओं में यदि 'मुंशीजी प्रेम और त्रास के तत्व न लाते तो वे इतने शक्तिशाली भी न बनते। किन्तु शक्तिशाली और ओजःपूर्ण होने पर भी पौराणिक महापुरुषों के प्रति जो स्वाभाविक श्रद्धा संस्कारतः बनी हुई है वह उखड़ने लगती है और कभी-कभी तो अत्यन्त शिथिल हो जाती है। क्योंकि अनेक बार स्वयं हम यह अनुभव करने लगते है कि जिस वासना मे, जिस विलास में, जिस आवेश मे अमुक महापुरुष ने अपना मन फिसल जाने दिया उसमे तो हम भी टिककर खड़े रह सकते थे। उनकी विशेषता क्या रही? इसका कुपरिणाम यह होता है कि महापुरुषो के आदर्श जीवन चरित्रमे जब हम अपने चरित्र प्रतिबिम्बित करते है तो हमें अपने दोष स्पष्ट प्रतीत होजाते है। हम अपना सुधार करते है किन्तु जिस रूप में मुंशीजी ने अपने चरित्रो का विकास किया है उससे तो मानव की दुर्बलताओ, दुश्शीलताओ और वासनाओं को प्रोत्साहन मिलता है। और इतना ही नहीं एक प्रकार का नैतिक समर्थन और आश्रय भी मिलता है जो मानव के लिए स्वाभाविक चाहे जितना हो किन्तु आवश्यक नहीं। पतन की ओर, ढाल की ओर, ढल जाना स्वाभाविक है किन्तु महत्ता तो है ढाल के विरुद्ध चढने मे। वही मानव का लक्ष्य है, प्राप्य है और उसीके लिए दर्शन, नीति और समाज का विधान

बना है। यदि मनुष्य बहती हुई धारा मे बह चला तो उसका पुरुषार्थ क्या ? यदि ढाल पर ढल चला तो उसकी सामर्थ्य क्या? उसकी सजीवता, उसका पुरुषत्व और उसको सबलता तो इसीमे है कि वह साधारण प्रलोभनों से अपने मन को खीचे रखे। अभी इस युग में सैकड़ों सहस्रों, लाखों, ऐसे नर-नारी है जिन्होने दूसरेके धनको ठीकरा समझा, और स्त्री के सुन्दर रूप को माया समझकर ठुकरा दिया, महत्व को लात मार दी और इस प्रकार नर-रत्न, पुरुष-रत्न होकर जीवित रहे या मर गए। किन्तु मुंशीजी के नाटकों और उपन्यासो में न पुरुष में पुरुषत्व दिखाई देता है और न नारीमें भारत का नारीत्व। उनमें होमर के एकिलीज़ की प्रतिहिंसा-भावना है। उनकी नारियो मे हेलेन और क्लिओपेट्रा की चंचलता और क्षुद्रता है। मुंशीजी ने समाज की कुछ दलित, पीडित, उपेक्षित और व्यथित नारियो का पक्ष लेकर बढते हुए युवक-समाज का मनोवैज्ञानिक आधार लेकर पौराणिक चरित्रो में रंग भरना प्रारंभ किया। विचित्र बात यह है कि वह रंग भरते हुए भी उनकी महत्ता मुंशीजी को निरन्तर प्रभावित करती रही और इसीलिए वे अपनी दुर्बलताओं मे भी उतने नही बिगड पाए जितने किसी अन्य अनाड़ी लेखक के हाथ में बिगड़ जाते। मुंशीजी का कौशल यही रहा है कि उन्होंने वासना को मनुष्य की साधारण दुर्बलता तो समझा किन्तु स्थान-स्थान पर पात्र को महत्ता के अनुसार उसका कोई दैवी चमत्कारपूर्ण और आध्यात्मिक समाधान कर दिया। इसीलिए उनकी चमक तो नही मिट पाई किन्तु उनका सोना कुन्दन न बन सका ? आग मे तपाने पर, कसौटी पर कसने से, उनकी खोट स्पष्ट झलकने लगी।

किन्तु यह सब होते हुए भी मुंशीजी ने भूले हुए इतिहास को फिर से जीवन दिया है। कम-से-कम तुलना के ही बहाने लोग उस भूले हुए इतिहास की उद्धरणी कर लेगे और साथ-साथ यह भी समझ सकेंगे कि नवीन और प्राचीन का जिस भित्ति पर समन्वय किया गया है वह भित्ति चाहे जितनी स्वाभाविक हो, चाहे जितनी मनोवैज्ञानिक हो, चाहे

ई जितनी युक्ति-युक्त हो किन्तु उसमें मानव को देवता बनाने की वह शक्ति नहीं है जो हमारे काव्यों की परम्परा में पाई जाती है।

किन्तु यह लाभ अवश्य हुआ कि जिन ऋषियो या महापुरुषों को हम अपने से बहुत दूर, बहुत ऊंचा और अप्राप्य समझते थे वे इतने समीप आगए, इतने अपने दिखाई देने लगे कि हममें और उनमे का अन्तर जाता रहा। उनके मन और हृदय मे हम अपने हृदय और मन की छाया देखने लगे और समझने लगे कि प्रयत्न करने पर साधना करने पर हम भी उतनी शक्ति संचित करके वही महत्ता प्राप्त कर सकते हैं।

: ८ :

भगवान् कौटिल्य

मुंशीजीकी इस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक रचनाकी विशेषता यह है कि ऐतिहासिक पुरुष होते हुए भी कौटिल्य की तेजस्विता वैदिक या पौराणिक ऋषियो से कम नही है। उनमे केवल वैदिक ऋषियों वाला संयम ही नही है, वरन् उनका तेज भी है। पाटलीपुत्र का राजा हिरण्यगुप्त-नन्द मदमत्त होकर अपने सौतेले भाई चन्द्रगुप्त को कपटपूर्वक अपने अन्तःपुरके रक्षक सेनाजितके यहां बन्दी कर लेता है। हिरण्यगुप्तनन्द के पश्चात् यदि कोई दूसरा व्यक्ति प्रभावशाली है तो वह है अमात्य वक्रनास जिसकी कुटिल भाव-भंगी से राज्य के सब लोग डरते हैं। इसी बीच हिरण्यगुप्तनन्द का साला आम्भि अपनी बहिन से मिलने आता है। उसके साथ उनका गुरुभाई विष्णुगुप्त ब्राह्मण भी है। हिरण्य-गुप्तनन्द की आज्ञा के अनुसार कोई ब्राह्मण हाथी पर चढ़कर नही चल सकता था। इस पर क्रुद्ध होकर विष्णुगुप्त ने कहा कि मैं पैदल ही चलूंगा किन्तु राजभवन में नहीं, अपने गुरु शकटाल के घर। शकटाल पहले नन्दो के प्रधानामात्य रह चुके थे किन्तु अब उनका गौरव लुप्त हो चुका है। वे एक दरिद्र की कुटिया मे अपनी पुत्री गौरी के साथ जीवन-यापन कर रहे हैं। उन्हींके घर अतिथि होकर प्रतापी विष्णुगुप्त आकर ठहरा है। सारा पाटलीपुत्र उस तेजस्वी ब्राह्मण के दर्शन के लिए उमड

पड़ता है। हिरण्यगुप्तनन्द को यह बात अच्छी नहीं लगती किन्तु उस का कोई वश भी नहीं। इसी समय विष्णुगुप्त के साथ गौरी के विवाह की बातचीत चलती है और विष्णुगुप्त कहता भी है कि यदि तुम्हे ऋषिपत्नियो की परम्परा मे आना हो तभी तुम मुझे वरण करो। किन्तु गौरी अन्तःपुर के रक्षक सेनाजित से प्रेम करती है। पर न जाने क्यो विष्णुगुप्त के आजाने पर उसके स्नेह मे कुछ अन्तर पड़ जाता है और वह अपने मन मे अत्यन्त दुविधा अनुभव करती है। आगत अतिथियों के अभिनन्दन के लिए समाज का आयोजन किया जाता है। बड़ी धूम-धाम होती है। उसी समाजमे सन्निधाता दर्शक की प्रभावशालिनी पत्नी मैना ऐसा प्रबन्ध करती है कि गौरी और सेनाजित का सम्मिलन होता है। इसी बीच यह समाचार मिलता है कि शकटाल के घरमे आग लगा दी गई है। मैना के सेवको के साथ गौरी घर भेज दी जाती है और वहां वह देखती है कि अन्ध शकटाल चुपचाप अलग बैठे हुए हैं। घर जलकर राख हो गया है। विष्णुगप्त का पता नही है और सब यही समझते है कि विष्णुगुप्त भी जल गया। इसी बीच चन्द्रगुप्त भी बन्दीगृह से निकल भागता है। उधर आम्भि अपनी बहिन को विदा कर लेजाने के लिए उसे पालकीमे बैठाकर सैनिको सहित प्रस्तुत है और प्रतीक्षा हो रही है विष्णु-गुप्त की। किन्तु यह कृत्रिम प्रतीक्षा थी क्योंकि वे लोग सभी समझते थे कि विष्णुगुप्त जल मरा है और इतने मे आम्भि के साथियो मे सैनिक वेश मे विष्णुगुप्त दिखाई पडते हैं। हिरण्यगुप्तनन्द तलवार चलाना चाहता है। विष्णुगुप्त हाथ पकडकर झटक देते हैं और आम्भि विष्णुगुप्त को साथ लेकर सदलबल चल देता है और ये लोग चलकर पहुँचते हैं नैमिषारण्य।

नेमिषारण्य का ऐसा सुन्दर, सजीव, भव्य और प्रभावपूर्ण वर्णन मुंशीजी ने किया है कि वह स्वयं एक साहित्य की सम्पत्ति बन गया है। इसी नेमिषारण्य के पर्वत पर विष्णुगुप्त चढते है और नीचे घाटी मे उतरकर उस स्थान पर पहुंच जाते हैं जहाँ व्यास जी के चरण चिह्न

पत्थर पर बने है। इधर गौरी का प्रेमी और अन्तःपुर का रक्षक सेनाजित भी विष्णुगुप्त को मारने की प्रतिज्ञा करके उनका पीछा करता है और किसी प्रकार उस स्थान तक पहुंच जाता है। वहां जैसे ही वह विष्णुगुप्त को मारने के लिए तलवार उठाता है वैसे ही भगवान् वेदव्यास उसे साक्षात् दिखाई देते है। वह भयभीत हो उठता है। चाणक्य आँख खोलते है और उससे कहते है–तुम भी महान् हो क्योंकि तुमने भगवान् वेदव्यास के साक्षात् दर्शन किये हैं। अन्त मे वे सेनाजित को गौरी से विवाह करने की आज्ञा दे देते हैं।

इस उपन्यास मे मुद्राराक्षस नाटक या द्विजेन्द्रलाल राय और जयशंकर प्रसाद के चन्द्रगुप्त नाटको के समान चन्द्रगुप्त के पराक्रम और विष्णुगुप्त की कुटिलता का वर्णन नहीं है। इसमे तो आदि से अन्त तक चाणक्य के अपरिमित तेज, उनकी तपः शक्ति, निर्भयता, मनस्विता, बल और पौरुष का वर्णन है। इसीलिए यदि इसका नाम भगवान् कौटिल्य रखकर भगवान् चाणक्य या भगवान् विष्णुगुप्त रखा होता तो अधिक उपयुक्त होता। कौटिल्य सम्बन्धी जितने भी नाटक या उपन्यास लिखे गए हैं सब मे उन्हे ममता-हीन, कठोर, विद्वेषी और कूटनीतिज्ञ के रूप में ही चित्रित किया गया है। भारतीय साहित्य में पहली बार चाणक्य को तेजस्वी, ब्रह्मवर्चस् पूर्ण, मनस्वी ब्राह्मण के रूप मे उपस्थित किया गया है। इस उपन्यास के कुछ वर्णन अद्वितीय है जैसे पाटलीपुत्रके राज्य वैभव का वर्णन, समानोत्सवका वर्णन और नैमिषारण्य का वर्णन। किन्तु नैमिषारण्य मे पर्वत की कल्पना विचित्र है क्योंकि वहाँ कोई पर्वत है ही नही। वास्तव मे ओज और आवेशसे पूर्ण यह उपन्यास मुन्शीजी की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में है।

गुजरात के ऐतिहासिक उपन्यास

श्री कन्हैयालाल मुंशी ने देशप्रेम की जिस वासना को अङ्गीकार करके भारतीय स्वतन्त्रता के युद्ध में योग दिया उसीकी अतिवासना ने अपनी मातृभूमि के भाषा क्षेत्र की परिधि में घिरी हुई गुजरात भूमि के प्रति इतना ममत्व और स्वाभाविक आकर्षण उत्पन्न कर दिया कि मुंशीजी की तरल प्रतिभा अपने लिए साहित्यिक साँचा ढालने के लिए गुजरात के इतिहास में से सामग्री सचित करने लगी। प्रायः काव्य-रसिकों को इतिहास के उस अङ्ग ने विशेष रूप से प्रभावित किया है जिसमें किसी धीरोदात्त नायक ने अपने संपूर्ण 'स्व' को 'पर' के लिए विसर्जन कर दिया हो, जिसने अपने कुटुम्ब, परिवार, कुल, गोत्र और देश की परिधि से अपने को मुक्त करके विश्वबन्धुत्व की उदात्त अनन्त परिधि को स्वीकार कर लिया हो, जिसकी अपनी इच्छाएं, प्रवृत्तियां, भावनाएं सुख और दुःख, हर्ष और शोक, सब विश्व-भर के प्राणियों के उल्लास और विषाद से प्रभावित होते हों। किन्तु मुंशीजी विशेष रूप से प्रभावित हुए थे इतिहास के उन महारथियों से जिन्होंने व्यापक जीवन की विषमताओं और कठिनाइयों की दुर्गम और अगम घाटियों को पार करने में तो अपने धैर्य और पराक्रम की परीक्षा दी ही किन्तु साथ-ही-साथ जिन्होंने मानव हृदय में उद्भूत होने वाले कोमलतम मनोवेगों, भावनाओं और आवेशों से भी अपने को मुक्त नहीं कर पाया। जिन उदात्त महापुरुषों ने रामायण और महाभारत का नायकत्व किया है उनकी अलौकिकता साधारण मानव समाज के असाधारण पुरुष से भी इतनी ऊँची उठ गई है कि वे हमारे श्रद्धेय बनकर हमारी उपासना, और भक्ति के पात्र बन गए। उन तक पहुँचने की वासना ही हमारे मन में उठ न पाई, साहस भी नहीं हुआ क्योंकि उन सभी ऐतिहासिक

परिस्थितियो मे भगवान् अपना विभूतिमत, श्रीमत् और ऊर्जित स्वरूप लेकर उस युग के नियन्ता बने हुए थे। किन्तु जब साधारण मानव समाज के नायक अपने राजकीय उत्तरदायित्व को अपने व्यक्तिगत उत्तर-दायित्व के साथ बाँधकर इस क्रियात्मक जगत् के भिन्न रुचि वाले समाज के बीच अपने पराक्रम और त्याग के बल पर अपनी अलौकिकता सिद्ध करने का प्रयत्न करने लगे तब रागात्मक इतिहासकार और साहित्यकार एक साथ उसकी ओर आकृष्ट हुआ। और उसे केवल इतिहास की तिथिगत परम्पराओ के बीच केवल घटनाओं के कर्ता के रूप में ही नही वरन् काव्य नायक की मधुर भूमिका मे भी उसका अवतरण करने का प्रयत्न करने लगा।

मुंशीजी ने, मुंशीजी की प्रतिभा ने, इसी प्रकार के ऐतिहासिक उपन्यास अथवा यो कहिए कि वीरो की प्रेम गाथाएं उपन्यास के रूप मे प्रस्तुत की है। सन् १९१६ मे मुंशीजी ने अपना सर्व प्रथम ऐतिहा-सिक उपन्यास 'पाटणनी प्रभुता' गुजराती साहित्य को भेंट किया। इससे पहले गुजराती साहित्य मे उपन्यास थे अवश्य किन्तु सभी मे प्रायः या तो शुद्ध रूढ़िवादिता के पुराने आदर्शों की दुहाई दी गई थी या नए युग का खुला विद्रोह था और उस खुले विद्रोह मे स्वतन्त्रता के नाम पर माँगी जाने वाली स्वच्छन्दता का अत्यन्त वेगपूर्ण उच्छृङ्खल प्रवाह था। मुंशीजी इन दोनों के बीच एक नया पथ बना कर चले। अपने प्यारे गुजरात के भूले हुए इतिहास को उन्होने संजीवनी पिलाई। जिन नगरों ने गुजरात के अतीत वैभव के दिनो मे अपने व्योम-चुम्बी भवनो से अलका की शोभा को भी हतप्रभ कर दिया था, गुजरात के जिन गाँवो ने, खेडो ने, गुजरात की रक्षा के लिए अपना रक्त बलिदान किया था, गुजरात के जिन बनों और उपवनों ने अपने भीतर गुजरात के वैभव की कथा खण्डहरों और शिलाओ के रूप मे सुरक्षित कर रखी थी वे सब चमक उठे, जाग उठे यह सन्देश लेकर कि गुजरात भी कभी कुछ था। किन्तु इतनी ही बात नही। गुजरात के इतिहास की इन

कथाओं में उन राजाओं की भी कथाएं हैं जिन्होंने एक बार लोकरंजन के लिए अपने प्राणों का विसर्जन किया, किन्तु साथ-ही-साथ जिन्होंने अपने हृदय मे बहती हुई स्नेहधारा को भी वेगवती करके मानव-स्नेह का आदर्श भी प्रतिष्ठित किया।

गुजरात के इतिहास का एक युग-का-युग मुंशीजी ने अपने तीन उपन्यासों मे उतारा है—पाटणनी प्रभुता (१९१६) गुजरातनो नाथ (१९१८-१९) और राजाधिराज (१९२२-२३)। इन तीनों उपन्यासों मे मुंशीजी ने गुजराती साहित्य मे एक नई शैली, नया वृत्त विधान, नया चरित्र- चित्रण और नया कथा प्रवाह प्रारम्भ किया। जिस प्रकार वाल्टर स्काट के वेवरली उपन्यास ने या टौमस कार्लाइल के फ्रांस की राज्यक्रांति ने एक बार सारे इङ्गलिस्तान को मंत्रमुग्ध कर दिया था उसी प्रकार मुंशीजी के ऐतिहासिक उपन्यासों ने मुंशीजी को सहसा उठाकर गुजराती के प्रमुख उपन्यासकारों मे ला बिठाया। इन उपन्यासों में गुजरात के इतिहास के संपूर्ण शक्तिशाली तत्व थे। इसीलिए गुजरात ने उन्हे हाथों-हाथ ऊपर उठा लिया क्योंकि इससे पहले कभी किसी ने गुजरात की इतनी महत्ता का बखान नही किया था। पौराणिक युग में तो यह कह दिया गया था कि "अङ्ग वङ्ग कलिंगेपु सौराष्ट्र मगधेपु च। तत्र गत्वा न च शुध्येत प्रायश्चित्त' विन क्वचित्" अर्थात् अंग, बंग, कलिंग, सौराष्ट्र और मगध—इनमे जाने वालों की प्रायश्चित के विना शुद्धि नही होती। और वास्तव में हर्ष की मृत्यु के पश्चात् एक ध्रुवभट्ट का ही नाम सुनने में आता है जिसने गुजरात पर स्वतंत्र होकर शांति से शासन किया। इसके पश्चात् जिस समय मुसलमान शासकों ने दिल्ली को अपने शक्ति और शासन का केन्द्र बनाया तब से गुजरात को सदा उनसे लड़ना पड़ा और अन्त में अलाउद्दीन खिलजी के समय यद्यपि देवगिरि के पतन के साथ गुजरात का इतिहास समाप्त हो गया; किन्तु गुजरात का वैभव समाप्त नहीं हुआ। सूरत, भड़ौच और जूनागढ़ में विदेशोंके वणिक भारतकी व्यावसायिक सामग्रियोंके साथ निरन्तर विनि-

व्यय करते रहे और उसी व्यवसायके बल पर गुजरातने पालिताना, आबू, गिरिनार, में अपनी विभूति के प्रमाण स्वरूप एक-से एक सुन्दर, प्रशस्त और भव्य मदिर खडे कर दिए। इन्ही सब विभूतियो ने मुंशी जी को प्रभावित और प्रेरित करके अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए सामग्री प्रदान की। जहाँ एक ओर 'पाटणनी प्रभुता' में मुंशीजी की उपन्यास कला के प्रारम्भिक रूप दिखाई देते हैं वही उनके 'गुजरातना-नाथ' और 'राजाधिराज' उनकी सिद्ध कला के परिणाम हैं और पृथ्वी-वल्लभ तो उनकी सर्वोत्कृष्ट अमर रचना है।

उनके उपन्यासो मे प्रवेश करते ही रेलगाडियों से पहुँचे जाने वाले, अंग्रेजी स्कूलों और न्यायालयों से समाकुल, विदेशी सभ्यता और संस्कृति में पले हुए नगरों के अस्वाभाविक रहन-सहन से विलग होकर हम सहसा सिद्धराज जयसिह के युग में पहुच जाते हैं, पाटण और अवन्ती के खण्डहरो मे मग्न पड़े हुए शिलाखण्ड सहसा एकत्र होकर सजीव हो उठते हैं। उनके प्राचीन रूप फिर स्थिर होने लगते हैं और उनके भीतर दस शताब्दी पूर्व छिपी हुई आत्माएँ फिर से आकृति धारण करके चलने-फिरने और हंसने-बोलने लगती हैं। उपन्यासकार की लेखनी मे युग सजीव हो उठता है, इतिहास की सूखी पसलियाँ फिर से नया हृदय और नए फेफड़े पाकर रक्त और श्वास का संचालन करने लगती हैं। और उपन्यासकार केवल राज भवनो की रंगरेलियो का ही साक्षात्कार नही करता वह वहाँ के हाटों, वीथियों और उपवनो में विहार करते हुए नागरिकों और महिलाओ की संपूर्ण वेशभूषा, संपूर्ण गति और संपूर्ण क्रियाओ का एकात्म होकर दर्शन करने और कराने लगता है। सहसा उसके सम्मुख उद्दीप्त भावनाओं से आविष्ट पुरुष और स्त्री, खनखनाते हुए अस्त्रशस्त्रो और कवचों से सुसज्जित योद्धा, राजनीति की कुटिल गतिविधि को सूक्ष्म दृष्टि से परखने वाले विलक्षण कूटनीतिज्ञ लोकानुरंजन की पूत भावना से प्रभावित राजा और महाराजा, अपने-अपने व्यवसाय में लगे हुए साधारण नागरिक और अपनी गृहस्थी मे तन्मय

होकर योगदान करने वाली गृहस्वामिनियां सब अपने युगकी सामग्री लेकर चेतन हो उठती हैं। विसूवियस का लावा निकाल देने पर पौंपिआई नगर की मृत और दग्ध समाधि उस युग का केवल अचेतन इतिहास लेकर प्रकट हुई है, किन्तु मुन्शीजी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में काल का लावा ऐसे कौशल से उठाया है कि उसके प्राणी-प्राणी,घर-द्वार हाट-बाट, वृक्ष पत्ते, पशु और पक्षी सब मानो चेतन होकर अँगड़ाई लेकर प्रबुद्ध हो उठे हों। अवन्ती से पाटन तक और पाटन से जूनागढ तक राजसभाओं में, राजमार्गों में और साधारण घरों में हम इतिहास की सभी सजीव मूर्तियों को और अनुपस्थित वस्तुओं को एकत्र संचित पाते हैं।

जहाँ तक कथा वृत्त का प्रश्न है,यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गुजराती साहित्य मे कथा कहने का ढंग मुंशीजी का अपना है और इस क्षेत्र मे उनसे कोई टक्कर नही ले सकता। इतिहास और कथा में सबसे बडा अन्तर ही यह होता है कि इतिहास में युग पर प्रभाव डालने वाली घटनाएँ प्रधान हो जातीं हैं और उस युग का निर्माण करने वाले मनुष्य गौण हो जाते हैं किन्तु कथा में उस युग के मनुष्यो की अनुभूतियाँ, उनकी क्रियाएँ,उनकी प्रवृत्तियाँ और उनके आचार-विचार सब एक साथ बोलने लगते हैं मानो मनुष्य ही किसी कौतुक के लिए घटनाओं का निर्माण करता हो और एक स्वतंत्र कुतूहल का निर्माण करके सबके लिए अद्भुत रस का आलम्बन बन जाता हो। वहाँ मनुष्य केवल हमारे आदर और श्रद्धा या घृणा का ही पात्र नही बना रहता वह हममें घुल मिल जाता है। हम उसके हृदय मे उठते हुए झंझावात का कंपन स्वयं अपने हृदय मे अनुभव कर सकते हैं, उसके मनमें उठे हुए सन्ताप को अपने हृदय मे टटोल सकते है, उसके चित्त में छिडी हुई उलझन को अपने चित्त मे उलझी हुई देख सकते हैं। इसीलिए कथा प्रिय होती है क्योंकि वह हमारे अत्यन्त निकट होती है। हम स्वयं उसके पात्र बन जाते हैं।

और उन्हींके साथ एक सगापन का नाता जोड़कर अपने को तन्मय कर देते है। कथाकार की व्यापक दृष्टि और सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का आधार लेकर मुंशीजी ने मनुष्य के हृदय को झकझोर देने वाली सभी उद्दाम वासनाओ का चित्रण किया है। इन वासनाओं में सबसे प्रधान वासना है प्रेम की, या स्त्री को देखकर पुरुष के मन में प्रकट हो जाने वाली विचित्र आत्मीयता की, अथवा पुरुष को देखकर स्त्री के मन मे उसे अपनाने को आकुल तीव्र लालसाकी। मनुष्य जीवनके साथ यह एक अत्यन्त स्वाभाविक संस्कार है और समाजने इस सस्कारको उच्छृंखल न होने देने के लिए अनेक प्रकारके बन्धन लगा दिए है—रक्त का बन्धन, जाति का बन्धन, धर्म का बन्धन, समाज का बन्धन और कभी-कभी देश का भी बन्धन। किन्तु मनुष्य ने—असाधारण मनुष्य ने—सदा सब युगो में इन बन्धनो का विरोध किया और निर्द्वन्द्व सूत्रकारो ने स्पष्ट रूप से कह भी दिया—

सुभाषितेन गीतेन युवतीनाञ्च लीलया।
यस्य न द्रवितं चित्त' स योगी अथवा पशुः॥

किन्तु कथाओं में न योगी की चर्चा होती है और न पशु की। जब मनुष्य की चर्चा होगी तो मानव हृदय में सदा उमडने वाली प्रेम की ऊर्मि कथाकार की सूक्ष्म दृष्टि से छिप नही सकती। मुंशीजी के सभी चरित नायक अपनी संपूर्ण उदात्त वृत्तियो के साथ-साथ अपनी संपूर्ण तेजस्विता और महत्ता को लिये हुए इसी प्रेम की लहर मे डूबते-उतराते दिखाई देते हैं। मुंज, मुंजाल, सिद्ध राज, मीनल, मजरी, और प्रसन्न सब इसी प्रेम की विभिन्न मूर्तियाँ हैं। प्रेम की परिधि से वाहर करके इन चरित्रों की कल्पना नहीं की जा सकती, इनका कलात्मक चित्रण ही नहीं हो सकता। मुन्शीजी ने मानो स्वतः अपने को इन सब रूपों में प्रतिष्ठित करके उनके अन्तरात्मा में प्रविष्ठ होकर अणु परमाणु की व्याख्या करके इन पात्रों को सचेत और सचेष्ट कर दिया है। किन्तु इतना

होने पर भी उस प्रेम में क्षुद्रता नहीं आने पाई, मिथ्यावेश नहीं आने पाया, जीवन कहीं भी अटपटा और कृत्रिम नहीं हो पाया। और जहाँ वे व्यंग पर उतर पडे हैं वहाँ पाठक के ओठों के कोने पहले फैलते हैं, आँखों की कोर संकुचित हो जाती है, कपोल ऊपर चढ जाते हैं, और मन्दस्मित से चढ़ते-चढते पाठक का हास अट्टहास तक पहुंच जाता है। कहीं भी एक क्षण के लिए भी कोई चरित्र कठोर व्यंग और स्वाभाविक जीवन के बीच असत्य नहीं प्रतीत होता। मुंज, मुंजाल, मीनल, और मंजरी कितने महान् हैं, किन्तु उनमें कृत्रिमता का लेश भी नहीं है और इसीलिए इसी मानवीयता से ओतप्रोत होने के कारण वे अत्यन्त सत्य जान पडते हैं। साथ ही बडी रहस्यमय, बडी अद्भुत और विचित्र बात यह है कि मुंशीजी के उपन्यासों में प्रतिनायक का अत्यन्त अभाव है। यूरोपीय नाटक और उपन्यास प्रतिनायक के विना जी ही नहीं सकते। मुंशीजी के उपन्यास प्रतिनायक के बिना ही सजीव और सशक्त बने हुए हैं। उनके जीवन की वास्तविक अनुभूतियों में ही अनेक नाटकीय परिस्थितियाँ अपने-आप उत्पन्न हो जाती हैं और उन्हीं से नाटकीय कुतूहल जागरित होकर रस की परम्परा बनाए रखता है। इसीलिए उनके उपन्यासों मे चरित्र और व्यापार अर्थात् क्रिया की पूर्ण एकात्मता है। सभी चरित्र एक वातावरण मे उस वातावरण पर प्रभाव डालते हुए ऐसे चलते हैं कि उनका अभेद रहस्यमय पहेली बने हुए भी स्वाभाविक और रुचिकर प्रतीत होता है।

उनके उपन्यासो मे व्यर्थ की अन्तः कथाएँ जोडकर इतिवृत्त को अनायास असंगत बनाने की प्रवृत्ति कहीं नहीं। कथा की जो धारा एक बार चलती है वह कुतूहल के सब क्षेत्रो मे होती हुई निरन्तर बढ़ती चली जाती है, उसमें काई व्यतिक्रम नहीं होता। इस प्रकार उनकी इस प्रेमाभिभूत कला का विशेष चमत्कार शब्द चित्रण और काल्पनिक भव्यताके साथ-साथ "पृथ्वी-वल्लभ" और गुजरातनो नाथ के कुछ भागो मे विशेषतः देख पडता है।

: १ :

जय सोमनाथ

सं० १०८२ मे गुजरात मे जो भयानक नैतिक विक्षोभ हुआ उसने केवल गुजरात के राजत्व को ही चुनौती नही दी वरन् उसने गुजरात के छोटे-छोटे भूपतियो की भावनाओ को भी एक-साथ ललकार दिया। धर्म के पीछे अपने प्राण न्यौछावर करने वाली हिन्दू जाति की परम्परा सहसा लगभग ६०० वर्ष के पश्चात्, हूणों के आक्रमण के पश्चात्, पुनः उत्तेजित होकर जाग उठी। अलग-अलग खण्डों मे बँटे हुए छोटे-छोटे राष्ट्र भी समान शत्रु का सामना करने के लिए एक बद्ध होगए। यह घटना तब की है जब महमूद गज़नवी ने संपूर्ण आर्यावर्त का वैभव लूटकर, वहाँ के जनपदो को श्मशान बना कर, वहाँ के नगरो को विध्वंस करके ग्यारह बार अपनी दस्यु वृत्ति तृप्त की। वही महमूद सोमनाथ के प्रसिद्ध मंदिर की अनन्त विभूति की कथा सुनकर अन्तिम बार गुजरात की ओर बढा। सोमनाथ पर आक्रमण केवल गुजरात के लिए ही चिन्ता की बात नही थी। संपूर्ण हिन्दू भारत उस देवालय की प्रतिष्ठा के लिए अपना सर्वस्व अर्पित करने को उद्यत था। किन्तु भावी प्रबल होती है। आर्यावर्त मे साहस नही था। पूर्व और दक्षिण की शक्तियां इतनी शीघ्र सहायता के लिए आ नहीं सकती थी और यद्यपि गुजरातके समस्त छोटे राष्ट्रो ने अत्यन्त तन्मयता, मनोयोग और एकचित्तता से आक्रमणकारी का विरोध किया किन्तु वे सफल नही हो पाए। यही कथा—करुण-कथा, किन्तु वीरता की अद्भुत और अलौकिक गाथाओ से भरी हुई कथा—"जय सोमनाथ" का आधार है। पहली बार महमूद सफल होता है और इन आर्य राजाओ की सम्मिलित सेना एक बार क्षुब्ध होकर पीछे हट जाती है। किन्तु फिर तत्काल ही पासा पलट जाता है और इन राजाओं की सम्मिलित सेनाएं महमूद के लिए काल बन जाती हैं। इतिहासकारो को भी इस कथा का प्रत्यक्ष चित्र देने मे बडी कठिनाई हुई है। वे अपने को निष्पक्ष

बनाने में समर्थ नहीं हुए। मुसलमान इतिहासकारों ने केवल महमूद की वीरता के गुण गाए हैं और यह बताया है कि वह धर्म युद्ध के लिए निकला था, वह मूर्ति-भंजक था। किन्तु स्वयं महमूद के कृत्यों ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह क्या था। वह काबुल का शासक था। किन्तु उधर के पार्वत्य प्रदेशों की असभ्य जातियाँ जिस दस्यु-व्यापार पर आज तक अवलंबित रही हैं वह दस्यु-संस्कार उसके रक्त में भरा हुआ था, और उसी लोभ की वृत्ति ने ही उसे भारत पर आक्रमण करने के लिए उकसाया था। यदि यह बात न होती तो अपने अन्तिम क्षण मे अपनी संपूर्ण धनराशि अपने सम्मुख एकत्र कराकर वह उस पर आंसू न बहाता। वह केवल धन-लोलुप था और साथ ही वह लुटेरों का साहसी सर्दार भी था। उसे नेतृत्व करना आता था; वह जानता कि किस कौशल से लोगों का मन और हृदय जीता जा सकता है। हिन्दू राजाओं में एकता भी थी, संघ-शक्ति भी थी, किन्तु यह सब होते हुए भी उनमें नेतृत्व का अभाव था। उन्होंने सबसे बड़ी भूल उस युग की यह की कि सोमनाथ के मंदिर की मूर्ति के लिए उन्होने महमूद से मोल-भाव करना प्रारम्भ कर दिया। महमूद का माथा ठनका और उसने समझ लिया कि जो सम्पत्ति मुझे दी जा रही है उससे कहीं अधिक सम्पत्ति इस मंदिर में होगी। इस घटना मे प्रत्येक हिन्दू लेखक किसी भी आक्रमणकारी को क्षमा नही कर सकता और अपनी वीरता और पराक्रम का अतिरंजित चित्र दिखाने में संकोच नहीं कर सकता था। किन्तु मुंशीजी ने इस कथा को एक विचित्र कौशल से रंगा है। जिस आख्यान में पल-पल पर विपथ होने की आशंका हो, पक्षपातपूर्ण होने का स्वाभाविक प्रलोभन हो उसमें से बच-बचकर चलना वैसा ही कठिन है जैसे काजल की कोठरी मे जाकर वहाँ से निष्कलंक निकल आना, विशेषतः उसके लिए जो स्वयं आर्य संस्कृति का कट्टर पक्षपाती हो और जिसने स्वयं उसी देश में जन्म लिया हो जिसमें इतनी बड़ी जाति की सम्मिलित पराजय हुई हो। किन्तु मुंशीजी ने ऐतिहासिक

घटनाओ की रचा करते हुए, अत्यन्त वेग से झूलते हुए पक्षपात के झूलों से बचते हुए उस समयके सैनिक नेतृत्वका बडा विशद चित्रण किया है। इस चित्रण मे उन्होने जो साहस, सचाई, और संयम प्रदर्शित किया है उसीने उनकी लेखन कला को अद्भुत जीवन-शक्ति प्रदान कर दी है और यह प्रतीत होने लगता है कि पराजय हुई सही किन्तु वह मूर्खता के कारण नहीं हुई, भूल से नही हुई केवल अदृष्ट के विधान से हुई, जिसमे मनुष्य का कोई हाथ नही है, मनुष्य का वश ही भी नहीं है। उनके 'जय सोमनाथ' को पढ़ने से अपनी पराजय पर भी गर्व होता है। जीत और हार तो संसार में होती ही है। किन्तु कभी हार मे भी गर्व होता है। उर्दू के कवि का वह पद्य सहसा स्मरण हो आता है—

गिरते हैं शहसवार ही मैदाने जंग मे,
वह तिफ्ल क्या गिरेंगे जो घुटनो के बल चले।

युद्ध का निर्णय केवल किसी की विजय या पराजय पर नही होता। युद्ध का निर्णय यह देखकर होता है कि युद्ध को एक नैतिक कर्तव्य समझकर उसके लिए किसने बडे से बडा बलिदान किया। अपने 'जय सोमनाथ' में मुंशीजीने उन्ही बलिदानोंके गौरवमय चित्र स्थान-स्थान पर खडे किए है। राजा भीमदेव के नेतृत्व मे उस समय के आर्य राजाओ ने जो एकमत होकर पराक्रम दिखलाया और विजयी महमूद को कच्छ मे लेजाकर पछाडा वही इस उपन्यास की मुख्य भूमिका है।

पुस्तक को पढ़ते-पढ़ते एक विचित्र प्रकार का वायुमण्डल उपस्थित हो जाता है। धर्म-युद्ध के लिए वह क्रोध, वह उत्साह, वह उमग और भव्यता! मानो महाभारत के पश्चात् फिर दुर्योधन ने द्रौपदी के चीर पर हाथ लगाया हो और राजा भीमदेव भीम के समान ही एक बार फिर ललकार उठे हो—

स्वस्थाः भवन्तु ममि जीवति धार्तराष्ट्राः

यदि इस उपन्यास में चौला के दो नृत्य न होते तो इस शक्ति-

शाली उपन्यास का पूरा-का-पूरा स्वर भैरव-नाद से भरा रहता। जिस कौशल से और जिस भव्यता से मुंशीजी ने अपनी विचार महत्ता को घटना के साथ गूँथा है उसने इस उपन्यास को महाकाव्य की महत्ता प्रदान करदी है। सतयुग से कलियुग तक अध्यात्म भावना की जो शाश्वत धारा सोमनाथ के मदिर ने प्रवाहित की थी उसका वर्णन अत्यन्त अद्भुत और सराहणीय है। उसमे कला है। यदि कोई दूसरा उपन्यासकार होता तो वह लडखडाकर गिर पडता, खडा न हो पाता। इस धर्म-युद्ध के लिए लडने वाला प्रत्येक व्यक्ति हिन्दू धर्म या आर्य संस्कृति के लिए प्राण देना कर्तव्य समझकर युद्ध नही करता है, उनमें से प्रत्येकको यह विश्वास है कि यह मूर्ति हमारा प्राण है, इसीकी दिव्य शक्ति हमे अनुप्राणित करती है और इसीलिए इस उपन्यास के चरित्रो के सब कृत्य दिव्य और आलौकिक हो गए हैं। जलती हुई मरुभूमि मे सज्जन चौहान का निराधार घूमना, घोघाराणा का अप्रतिम साहस और उसका बलिदान, उसके सूक्ष्म आध्यात्मिक शरीर से उत्पन्न की हुई अद्भुत जागृति, सामन्त का प्रज्वलन्त भावावेश, और भीमदेव का भव्य पराक्रम इस कथा के प्राण हैं।

इस संपूर्ण महायुद्ध के आत्मा-स्वरूप गंग सर्वज्ञ मन्दिर के प्रधान पुजारी हैं। वे मानो शाश्वत युग के ऐसे पथिक है जिनकी आध्यात्मिक शक्ति आकाशको ऊपर थामे हुए है और ग्रहो में प्रकाश बनी हुई है। वे हमारी संस्कृति और सभ्यता के मूर्तिमान प्रतीक हैं। उनकी अलौकिक दिव्य शक्ति मे ब्रह्माण्ड का समस्त ज्ञान निहित है, उनको समझना ही 'जय सोमनाथ' को समझना है। इस शाश्वत मंदिर के पथ पर होनेवाले संपूर्ण अज्ञानो और बुराइओ से सबकी रक्षा के लिए वे प्रहरी के समान खड़े हैं, आर्य संस्कृति मानो उन्ही के आश्रय पर जीवित है। वे उस के रक्षक भी है पोषक भी हैं। इस जातीय विपत्ति के समय वही एक ऐसे प्राणी हैं जो हाथ मे प्रकाश लेकर जनता का पथ-प्रदर्शन करते हैं। यह तेजस्वी ब्राह्मण स्वर्ग और मर्त्य दोनो का प्राणी है। इस पुस्तक में

सबसे अधिक स्मरणीय दृश्य वह है जब वे महमूद और शिवलिंग के बीचमे खडे हो जाते हैं। थोडे-से चुने हुए संयत शब्दोंमे इस महात्मा की करुण और दिव्य भव्यताका ऐसा चित्रण कर दिया गया है मानो केवल वही एक ऐसा व्यक्ति है जो इस आक्रमणका रहस्य और मंदिरके पतनकी बात जानता हो। शिवराशि और कापालिक अविद्या की अनगढ अभि-व्यक्तियां हैं। ये केवल पूर्ण विनाश से ही दूर हो सकती हैं और महमूद इस विनाशलीला मे उस परब्रह्म का साधन मात्र है। भगवान् कृष्ण ने भी अर्जुन से यही कहा था—

निमित्तमात्रं भवसव्यसाचिन्

और उनकी समझ में महमूद उस महाविनाश की लीला के लिए भगवान् का खडा किया हुआ निमित्तमात्र था। इस अनुभूति के साथ वे उसी स्थान पर रक्त-रंजित होकर समाप्त हो जाते है मानो वे स्वय नीलकण्ठ के अवतार हो जिसने ससार के सुख के लिए, प्रसन्नता के लिए हलाहल पी लिया हो।

और चौला—चौला इस पृथ्वी की नही वह उस अमर प्रेम की प्रति-मूर्ति है जो भक्ति की अत्यन्त शुद्ध प्रतिकृत्ति हो सकती है मानो द्वापर युग की कोई व्रजगोपी वंशी के साथ गाई हुई गीत की टेक लेकर और रास के साथ नाचा हुआ नृत्य लेकर फिर से उत्पन्न होगई हो। शिव के लिए अपने को बलिदान करके उसने अपने व्यक्तित्व मे विशेष तेज प्राप्त कर लिया है। जिस समय भीमदेव ने अपने शौर्य की तेजस्विता से आक्रमणकारियो को मुग्ध कर दिया था उस समय चौलाने यही समझा कि महादेव की संपूर्ण शक्ति भीमदेव में समागई है और उसी भावा-वेश मे, भक्ति के आवेग में वह भीमदेव से लिपट जाता है। धीरे-धीरे वह दिव्य ज्योति लुप्त होती है और सासारिक स्पर्श उसका हृदय वेदना से मथ देता है। किन्तु सोमनाथ उसके भीतर व्याप्त हैं और नए मंदिर के साथ-साथ वह भो फिर उद्बुद्ध हो जाती है। फिर उसके भूले हुए नाच और गाने नए मंदिर के मण्डप मे खिल उठते है, गूंज उठते है।

यों तो मुंशीजी ने महमूद, सामन्त और गंगा—इनके भी चरित्र-चित्रण में कुछ उठा नहीं रखा है। लेखक ने इस चित्रण में स्वदेशी होने के नाते किसी को बढ़ाया नही और विदेशी होने के नाते किसी के गुणो की उपेक्षा नहीं की। महमूद ने विदेशी रूढ़ियों में जन्म लिया, शिक्षा पाई और अपनी सैनिक बुद्धि को विकसित किया। उसको सफलता दिलाने वाली उसकी एकात्म-बुद्धि है। एक लालसा, एक इच्छा और एक वासना लेकर वह दिग्विजय करता घूमता है, पग-पग पर सफलता उसका अभिनन्दन करती है। देखने-सुनने में भी उसका व्यक्तित्व आकर्षक है और उसकी निष्ठा से उसके सभी अनुगामी उसके लिए प्राण देने को उद्यत हैं। वह अपने अनुगामियों का नेतृत्व ही नहीं करता, उनमें जीवन भी भरता है, उन्हें शक्ति भी देता है, उन्हें उत्साहित भी करता है। और सबसे बडी बात तो यह है कि कठिन-से-कठिन परीक्षा के समय भी उसका धैर्य विचलित नहीं होता।

सामन्त सबसे अधिक दुखी व्यक्ति है। इस संपूर्ण युद्ध के पीछे मानो वही एक प्रेरक और संचालक शक्ति हो। देशभक्ति के आदर्श के पीछे वह ऐसा वैरागी है कि सबसे अधिक दुःख वही उठाता है और अन्त में सब कुछ खो भी देता है। निराश्रय, निराधार, सम्बलहीन, अकिंचन और दरिद्र होकर वह अपनी देशभक्ति की प्रबल तपस्या की साधना करता है, सफलता न मिलने पर भी साधना करता ही जाता है। वह श्रद्धेय है। जहाँ एक ओर उसकी व्यथा के प्रति संवेदना होती है वही दूसरी ओर उसके त्याग में, अपमान मे, अगणित विपत्तियों में भी शत्रु को नष्ट करने की प्रबल भावना उसे अद्भुत रूप से सजीव और चेतन बनाए रखती है। चौला के पार्थिव बन्धनों में वह भी एक बन्धन बना रहता है मानो वे दोनो युग-युग से जुडे चले आते हुए एक आत्मा हों और किसी शाप से एक साथ रहते हुए भी अलग-अलग होकर जीने को विवश कर दिये गए हो।

किन्तु भीमदेव इस कथा का नायक है। गुजरात की विपत्तिमें उसने

सबसे अधिक पराक्रम और शौर्य दिखलाया है। विचलित सेनाओंका नेतृत्व और सचालन किया है। इसीलिए लेखककी उसके प्रति ममता स्वाभाविक है, किन्तु यह स्वाभाविक ममता भी कहीं पक्षपातमे रंगी हुई नही है। भीमदेव मे नेतृत्व के उदात्त और सहज गुण हैं। सोमनाथ मे उन का अखण्ड विश्वास है। अपने देश के प्रति उनकी अतुल भक्ति है। शत्रु से लोहा लेने की अदम्य शक्ति है। युद्ध मे विचलित न होने का अप्रतिम धैर्य है, और इन्हीं सब गुणो ने उन्हे गुजरात के इतिहास का मुख्य नायक बना दिया है, और इन्ही सब गुणों ने 'जय सोमनाथ' का भी चरित नायक बना दिया है। अपूर्व और असाधारण विपत्तिका सामना करने के लिए वे गुजरात के बलिदान के जीवित प्रतीक हैं। अन्त मे जो विजय मिलती है वह विजय उन्हीके उत्साह, पराक्रम, धैर्य और नेतृत्व का परिणाम है। ऐसे अनेक वीर हुए हैं जिन्होंने युद्ध में अद्वितीय पराक्रम दिखलाया है, जिनके शस्त्रोने कभी पराजय नही स्वीकार की, जिन्होंने कभी किसीके आगे सिर नहीं झुकाया, किन्तु भीमदेव की वीरता केवल यहीं तक परिमित नही थी। वे सेनापति भी थे और समाज के नेता भी थे। छिन्न-भिन्न हिन्दू राज्य शक्तियों को अपने विनीत तेज से एकव्यूह करके उन्होने महमूद के सम्मुख जो विरोध खडा किया वही भीमदेव की सबसे बडी विजय थी। मुंशीजी ने भीमदेव की उस संघ बुद्धि का जहां-तह भलीभाँति गुणगान किया है और ऐसे वीर के लिए जितना सुन्दर स्मारक खडा करना चाहिये वह मुंशीजीके शब्दोंसे अधिक बढकर सुन्दर और भव्य नहीं हो सकता। वीर की पूजा के लिए जिस प्रतिभा की प्रतिष्ठा की जानी चाहिए वह 'जय सोमनाथ' के भीमदेव से अधिक प्रभावशाली और आकर्षक नहीं हो सकता।

'जय सोमनाथ' अत्यन्त चुभती हुई और भव्य दु:खद कथा है। त्रासद कथा के सभी तत्व इसमे मिलते है, कथा की उच्चतम गंभीरता, महान् और उदात्त चरितनायक, दु:ख और कष्ट, अन्त में शान्ति और पुनर्निर्माण। गंग सर्वज्ञ वह महापुरुष है जो मानो मनुष्य की लघुता में

जीने के लिए बरबस डाल दिया गया हो।

शिवराशि और कापालिक नामक पुजारियों की अज्ञानता से विदेशी आक्रमण होता है और मन्दिर की पवित्रता समाप्त हो जाती है। क्षुद्रता और हठ से जो इतनी मानवीय सामग्री का विनाश होता है वह रोमांचकारी है। मंदिर पर आक्रमण और उसका विनाश एक रहस्यमयी समस्या है। गंग सर्वज्ञ की अतुल व्यथा और बलिदान हृदय विदारक है। अन्तिम शान्ति केवल चौला को मिलती है और भीमदेवकी अधीनता में एक वीरतापूर्ण नया संसार जाग उठता है। यह उस जाति की दुःख कथा है जिसने थोड़े समय के लिए शाश्वत नियमों में अविश्वास किया था। किन्तु जाति का पुनर्जन्म होता है, दोष भाग जाते हैं, और नया जागरण सिर उठाने लगता हैं। पुराने मन्दिर के खण्डहर पर नया मन्दिर उठता है। आर्य संस्कृति फिर चेतन हो जाती है।

'जय सोमनाथ' की शैली अत्यन्त अद्भुत है, अन्य लेखकों से भिन्न है। कथा ठहर-ठहर कर प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक परिस्थिति की छानबीन करके, उसका सूक्ष्म निरीक्षण और विश्लेषण करके परिणाम को आगे ठेलती हुई चलती है और इसीलिए कथा प्रवाह से कभी-कभी लोग ऊब जाते हैं। लेखकके अपने सांस्कृतिक विचार अथवा संस्कृति सम्बन्धी कुछ आदर्श और सिद्धांत सहसा बीचमें कथाकी धाराको रोककर खड़े हो जाते है और पाठकको उतनी देर रुकनेके लिए विवश कर देते हैं। किन्तु यह व्यवस्था जटिल नहीं होती और कभी-कभी कुतूहल में बाधा देते हुए भी सरल होती है, बोधगम्य होती है और आवश्यक भी होती है। कुछ दृश्य तो अत्यन्त सुन्दर और अत्यन्त भव्य हैं। ऐतिहासिक उपन्यासमें आध्यात्मिक औरलौकिक संघर्षोंके समन्वय ने और कथा की प्रतीकात्मक भावना ने इस उपन्यास को अलग खड़ा कर दिया है, सबसे अलग—सोमनाथ के मंदिर के समान भव्य, विराट, शान्त, शोभामय, और श्रद्धामय। उसे पढ़कर अपनी लुप्त वीरता के प्रति गौरव होता है और शैली के प्रति आकर्षण और श्रद्धा।

: २ :

पाटणनी प्रभुता

विक्रम स० ११५० मे पाटणके राजा कर्णदेव अपनी रोग शय्या पर मृत्यु के आवाहन की प्रतीक्षा कर रहे थे और जो राजकीय कुचक्र और षड्यन्त्र ऐसे विपत्काल में सहसा उठ खड़े होते है वे सभी जाग उठे थे। जिन जैन आचार्यों ने गुजरात के राजनीतिक और सामाजिक जीवन में सदा प्रमुख भाग लिया था वे,फिर से गुजरात मे अपनी शक्ति का संघटन और पाटणके राजमुकुट पर अपने आधिपत्यकी योजना बनाने लगे थे। बहुत दिनो से वे पाटण को शक्तिशाली, सैन्य बलपूर्ण जैन राज्य बनाने के फेर में थे। वहाँ के राजा की इस संकटापन्न अवस्था में उन्हे अपने स्वप्न की संभावना के लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगे किन्तु प्रधान मंत्री मुंजाल के कौशल से जो राजपूत सामन्त पाटन के प्रभुत्व के नीचे एकत्र किये गए थे वे जैनियो के इन कुचक्रो से अधीर हो उठे और उन्होंने निश्चय कर लिया कि यदि कर्णदेव समाप्त हो गए तो इन जैन षड्यंत्रकारियों से लोहा लेने मे हम पीछे नही हटेगे।

इससे १२ वर्ष पूर्व चन्द्रावती की राजकुमारी मीनल देवी मुंजाल के आकर्षक व्यक्तित्व से आकृष्ट होकर दक्षिण से चलकर पाटन पहुंचती है कर्णदेवसे विवाह करने। मुंजाल के समीप रहने और उन्हीमे अपने को समा देनेके प्रलोभन ने उसे कर्णदेव से विवाह करने को प्रेरित किया था। ऐसा विवाह निश्चित रूप से असफल होता है किन्तु मुंजाल ने राजा और रानी के बीच का सम्बन्ध दृढ कर दिया और इस समय जब कर्णदेव की अन्तिम सांस बाहर निकलने को छटपटा रही है उस समय युवराज जयदेव इतना छोटा है कि राज्य का भार वह संभाल नहीं सकता।

किन्तु मीनल देवी अधिकार पद पर है। अधिकार मद ने उसे अन्धा बना दिया है। इतने दिनो तक गुडिया रानी बनी हुई वह यही स्वप्न देखा करती थी कि किस दिन मै स्वतंत्र राज्यसत्ता का संचालन

करूं। राज्य की विपत्ति की इस वेला में उसे अपना स्वप्न सत्य होता दिखाई देता है। उसकी समझ में मुंजाल ही प्रधान बाधा है और एक इसी द्विविधा के समय जैन साधु आनन्दसूरि मीनल देवी के पास पहुँच कर उसके कान भर देता है। रूसी सम्राट् जार के धर्म सचिव रासपुतीन के समान आनन्द सूरि भी कम प्रभावशाली व्यक्ति नहीं है। उसकी कूटनीति और धार्मिक रूपकता से प्रभावित होकर महारानी उसके इंगित पर नाचने लगती है और यही विनाश का और अनैक्य का बीज बो दिया जाता है।

इस संपूर्ण महाकुचक्र के सम्मुख मुंजाल का प्रभावशाली व्यक्तित्व राज्य पर आने वाली सपूर्ण विपत्तिओ के विरुद्ध महाशिला बनकर खडा है। मुंजाल केवल प्रधानामात्य ही नहीं है। वह पाटन की आत्मा है, वह राष्ट्र का निर्माता है, उसकी प्रतिभा, कुशलता और निस्वार्थता ने पाटन की जनता मे आत्मविश्वास और साहस भरा है। उसके लिए राज्य शक्ति पवित्र धरोहर के समान है और इसीलिए उसकी सत्ता उसे अभिमानी बनाने के बदले उसे और भी महत्तर बना देती है। उसकी गंभीरता में, विवेक में और प्रौढ भव्यता मे कुछ ऐसी विचित्र आश्वासन शक्ति है मानो उस सुस्थिर केन्द्र से किसी प्रकार भी राज्य विचलित नही हो सकता। वह कुचक्र आनन्दसूरि से घबड़ाने वाला नही है और पहली ही भेट में वह आनन्दसूरि पर अपनी महत्ता अंकित कर देता है। किन्तु फिर भी वह राजनीतिक खेल खेलता चलता है और इस प्रकार खेलता है कि स्वयं आनन्दसूरि अपने जाल मे अपने-आप फंस जाता है।

मुंजाल को पदच्युत करना आनन्दसूरि का प्रधान लक्ष्य है और वह उसके लिए पूरी तैयारी भी कर लेता है। यदि मीनल देवी उसकी मुट्ठी मे आ जाय तो फिर एक बार महावीर स्वामी का पवित्र झंडा गुजरात पर फहराने लगे। इससे मीनल देवी की भी चिर संचित कामना पूरी हो जायगी यही समझ कर उसने हठी, दुराग्रही संशयशालिनी और

महत्वाकांक्षिणी मीनल देवी को मंत्र देना प्रारम्भ किया। अपनी साधुता के तले उसने अपनी दुष्टता छिपाकर अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। मीनल ने पूछा कि यदि आप पाटन के प्रधानामात्य हों तो आप क्या करेंगे। आनंदसूरि ने उत्तर दिया कि जैन धर्म मेरा मूल मंत्र है। मै देश को विजय दिलाता हुआ आगे बढ़ूंगा और देश के सब भागों पर भगवान् महावीर का झण्डा फहरा दूंगा। मीनल कहती है—"कैसी विचित्र बात है। तुम्हारे विचार मेरे विचार से मिलते है। मान लो जैनियो की शक्ति बढ जाय और पाटन दूसरी चन्द्रावती बन जाय तो ?" आनन्दसूरि ने तत्काल उत्तर दिया—"हो सकता है रानी। और उसका उपाय है। इसे हटा दो।"

विक्षिप्त दृष्टि से देखती हुई मीनल ने पूछा —"किसे ?"

उत्तर मिला—"मुंजाल को।"

"उसे, जो पिछले तेरह वर्ष से मेरा सहायक और मेरा बल रहा है ?"

इस पर आनन्दसूरि ने अपना जाल विस्तृत कर दिया। बोला —"सेवक चाहे जितना भी स्वामिभक्त हो पर वह अवश्य रूढ़िवादी होगा। उसमें राजा की दृष्टि आ ही नही सकती। मुंजाल को जैनियों से निपटने के लिए चंद्रावती भेजा जा सकता है और शान्तिचन्द्र को पाटन का रक्षक बनने के लिए मनाया जा सकता है।"

अपने चचा कर्णदेव को अन्तिम अभिवादन करने के लिए प्रधान क्षत्रप देवप्रसाद पाटन पहुंचता है और वहां वह अपने पुत्र त्रिभुवन को बताता है कि किस प्रकार मेरा विवाह मुंजाल की बहिन हंसा से हुआ और किस प्रकार हसा इतने वर्षो से मीनलदेवी के पास बन्दी है। त्रिभुवन पहुंचता है मुंजाल के पास—अपनी माता की मुक्ति के लिए किन्तु मुंजाल द्रवित नहीं होता, टस-से-मस नहीं होता। इसी बीच कर्णदेव की मृत्यु हो जाती है और मुंजाल सब घटनाचक्र का अध्ययन

करके समझने लगता है कि गुजरात का विनाश समीप है। रानी षड्यंत्र कर रही है। एक बार वह विचार करता है—'क्यों न रानी को ही बन्दी कर लूं ?'

रानी मीनल ने अपना राजनीतिक गुरु बदल दिया और मुंजाल से मुक्त हो गई। शान्तिचन्द्र को अधिकार प्राप्त होगया। मुंजालने निश्चय कर लिया कि मालवा के राजा से युद्ध करना ही होगा। देवप्रसाद को पाटन में बन्दी करने का षड्यंत्र फूट गया और उसने पाटन से बाहर मुंजाल से भेंट भी कर ली। मीनल विक्षुब्ध हो उठी, किन्तु उसने साहस नहीं छोड़ा। उसने हंसा को मुक्ति दे दी और उसे कहा कि जाओ, अपने पति देवप्रसाद से मिलो और उसे पाटन पर चढ़ाई करने से रोक दो। इसी बीच राजकुमार जयदेव और हंसा के पुत्र त्रिभुवन में कुछ कहा-सुनी हो जाती है और त्रिभुवन आहत होकर गिर पड़ता है।

मीनल ने कहा कि त्रिभुवन के प्राणों की तभी रक्षा हो सकती है जब उसकी मां कहना मान ले। हंसा मान लेती है और अपने पति से मिलने चल देती है। इधर देवप्रसाद मुंजाल से मिलकर पाटन पर चढ़ाई करना चाहते है पर इसी बीच हंसा आ जाती है। देवप्रसादको देर हो जाती है। मीनल की पहली राजनीतिक विजय होती है।

आनन्दसूरि के साथ मीनल चन्द्रावती की ओर जाती है बीच में मुंजाल से भेंट हो जाती है। क्रोधावेश मे मीनल न जाने क्या क्या मुंजाल को खरी-खोटी सुनाती है। किन्तु धीर मुंजाल अविचल रूप से उत्तर देता है—"भूलना मेरा स्वभाव नहीं है। तुम्हे मैंने रानी के पद पर प्रतिष्ठित किया है। जान पड़ता है अब तुम क्रोध की देवी बनकर सोलंकियो का कुल नष्ट करने पर उतारू हो गई हो।" इस आत्मग्लानि मे वह अपने अस्त्र-शस्त्र फेंक देता है और मीनल का बन्दी बन जाता है। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मीनल की यह दूसरी विजय है। किन्तु त्रिभुवन और प्रसन्न के नेतृत्व मे पाटन की जनता मीनल के विरुद्ध विद्रोह छेड़ देती है।

उधर आनन्दसूरि दूसरे कुचक्र की रचना करता है। जिस भवन में देवप्रसाद और हंसा सो रहे हैं उसमे आग लगा दी जाती है। अग्नि की भयंकर लपटो से घिरे हुए वे भवन के पीछे नदी में कूद पडते हैं। धर्मान्ध जैन साधु उनका पीछा करते हैं और देवप्रसाद पूर्वमृत हंसा को हाथ में लिये हुए नदी के तले मे चले जाते हैं और आनन्दसूरि हर्ष से नाच उठता है—'भगवान् महावीर का शत्रु अन्त मे मर ही गया।' इस समाचार ने त्रिभुवन के मन मे प्रतिहिंसा जगा दी और पाटन की जनता भी यह सुनकर विक्षुब्ध हो उठी। जब मीनल लौटकर पाटन आई तो चम्पानेर के द्वार के बाहर ही उसे विद्रोह की सूचना मिल गई। मीनल ने बडे कौशल से त्रिभुवन की पत्नी प्रसन्न को फसाना चाहा किन्तु वह भी साधारण नहीं थी। उसने कहा "राजकुमार जयदेवको मेरे साथ भेज दीजिए और आप नर्मदा के तट पर जाकर भगवान् का भजन कीजिए।" इस पर मीनल बोली "ढीठ लडकी! स्मरण रखना मीनल देवी राजमाता होकर ही पाटन में जायगी। यदि नही तो होने दो प्रलय और नरक मे जाने दो पाटन को भी।" प्रसन्न की दृढ़ता से मीनल हतप्रभ हो जाती है। मीनल को अपने नैतिक पतन पर आत्मग्लानि होती है। उसका मानसिक संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है वह फिर मुंजाल को स्मरण करने लगती है।

इसके पश्चात् प्रारम्भ होता है वह दृश्य जो इस उपन्यास की सर्वोत्कृष्ट कला है। मुंजाल अपनी महत्ता और भव्यताके उन्ही मौलिक चिह्नों के साथ आता है। मीनल अपने पूर्वकृत्यो पर प्रायश्चित्त करती हुई क्षमा की प्रार्थना करती है। उसका पाप धुल गया है, उसके हृदय की मलिनता जाती रही है और वह कहती है—"जनता के आदर्शों के लिए तुम दर्पण बन रहे हो। मै बुरी तरह असफल हो चुकी हूं। मैं समझ गई कि राजमद केवल एक निरर्थक स्वप्न है। मैं सब कुछ छोडने के लिए उद्यत हूँ। मै केवल अपने पुत्रके लिए राजमुकुट मांगती

हूँ। फिर से मेरा नेतृत्व करो।" इस पर मुंजाल कहता है—"मैंने नेतृत्व का काम छोड़ दिया है।"

किन्तु मीनल के इस पुनर्जन्म और पुनःसंस्कार पर मुंजाल के मन में आदर है और थोडी ही देर पश्चात् भौतिक तलसे बहुत ऊंचे मुंजाल और मीनल प्रेम की प्रभा में चमकते दिखाई देते हैं और मुंजाल कहता है—"मैं वही मुंजाल हूँ—अपरिवर्तित।" दोनो गले मिलते है।

मुंशीजी की नैसर्गिक प्रेम प्रकृति इस दृश्य में पूर्णरूप से अभिव्यक्त हो उठी है किन्तु नैतिक दृष्टि से उस घटना ने मुंजाल के विशाल चरित्र को पर्वत की ऊँचाई से ढकेलकर नीचे पटक दिया है। भारतीय संस्कृति के पतिव्रत और एकपत्नीत्व के सुन्दर श्रद्धेय आदर्श मानो लडखडाकर ढह पडे, मानो उनकी महत्ता सहसा विशृंखल होकर बिखर गई हो। यदि उपन्यासकार ने मीनल के मन मे मुंजाल के प्रति श्रद्धा जगाई होती, भक्ति जगाई होती, वासनाहीन दैवी आकर्षण जगाया होता तो मुंजाल और भी सुन्दर लगता किन्तु मीनलके वासनात्मक प्रेम के बंधन मे मुंजाल को बांधकर उपन्यासकार ने मुंजाल के साथ न्याय नहीं किया है और सहसा पाठको की श्रद्धा को ऐसा गहरा धक्का दिया है कि वे अपने को सँभाल नहीं पाते। हां, जहां तक कला की बात है, संवाद की बात है, साधारण मानवीय मनोविज्ञान की बात है। वह इस दृश्य में अद्भुत है किन्तु यदि दोनो सामान्य मानव समाज से ऊपर आ सकते तो वे निस्सन्देह और भी अधिक आकर्षक होते इसमें सन्देह नही है। मुंजाल फिर पाटन का प्राण हो जाता है मीनल राजमाता हो जाती है, आनन्दसूरि पदच्युत हो जाता है। प्रसन्न और त्रिभुवन का विवाह हो जाता है। मीनल और मुंजाल एक हो जाते हैं।

पाटन पर नई आशा और नए हर्ष का प्रभात होता है। जय-सोमनाथके महाघोष के साथ जयदेव का राज्याभिषेक होता है। त्रिभुवन राज्य का महा संरक्षक हो जाता है और मुंजाल गुजरात का पुनः

निर्माता हो जाता है। पाटन की खोई हुई प्रतिष्ठा फिर से प्रतिष्ठित हो जाती है।

: ३ :

गुजरातनो नाथ

पाटन की गद्दी पर बैठे हुए जयदेव को चार वर्ष हो गए। त्रिभुवन पाल लाट देश में और ऊदो मेहता कर्णावती और खभात में उसकी शक्ति संगठित कर रहे हैं। मुंजाल और मीनल तीर्थ-यात्रा के लिए निकल गए हैं। पाटन की रक्षा के लिए रह गए हैं केवल शान्त मेहता, वृद्ध मंत्री। अचानक अवन्ती के सरदार उबक ने पाटन पर आक्रमण किया। शान्त मेहता ने यही निर्णय किया कि विग्रह करने से लाभ नहीं होगा, मानपूर्ण संधि ही एक मात्र उचित पंथ है। किन्तु संधि होने से पहले ही अचानक त्रिभुवन पाल का प्रिय मित्र काक बीच में आ खड़ा होता है। पाटन की जनता इस अपमानपूर्ण संधि के विरुद्ध है। मुंजाल भी लौट आता है और जयदेव को यही सम्मति देता है कि युद्ध करना ही श्रेयस्कर है। जैसे महाभारतमें भगवान् कृष्णने पाण्डव सेना का संचालन किया था ठीक उसी प्रकार इस पूरी कथा का संचालन भी मुंजाल करते हैं और उसके अर्जुन बने हुए जयदेव भी बीच-बीच में कुछ अधीर होकर भी ऐसा उद्योग करते हैं कि मुंजाल ने जो उसके सम्मुख लक्ष्य स्थापित किया था उसकी प्राप्ति हो जाती है। प्रत्येक वस्तु पर, प्रत्येक क्रिया पर मानो मुंजाल की छाप लगी हुई है। महाशक्ति के समान राष्ट्र की संपूर्ण विभूतियों में वह व्याप्त है। जितनी मुख्य घटनाएं होती हैं उन सबके पीछे उसकी प्रेरणा है। किस कौशल से वह घटना-चक्र को समझता है, किस सूक्ष्मता से वह निर्णय देता है और कितनी चतुराई से वह सूत्र सचालन करता है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रीतियों से वह कार्य करता है और इतिहास का निर्माण करता है।

काक लाटदेश का ब्राह्मण योद्धा है—मानी, निर्भय, और निःशंक होकर वह अनेक लोमहर्षक घटनाओं का नायक हो जाता है। शारीरिक स्फूर्ति के साथ-साथ वह बड़ा मेधावी और चतुर है। वह सहसा पाटन की राजनीति में कूद पड़ता है और जयदेव से कहता है कि सोरठ के राजा नवघन के आक्रमण का सामना करे। नवघन को मार भगाने में ही राज्य की कुशलता है। जयदेव ने काक का विचार मुंजाल के सम्मुख उपस्थित किया। मुंजाल कह उठता है—'ठीक है, जान पड़ता है तुमने मेरे विचार चुरा लिए हैं।' तत्काल वह शिष्य भी उत्तर देता है—'मैं ठहरा तो आपका ही शिष्य न!'

जब काक मुंजाल से मिलता है तो मुंजाल उसे समझाता है कि मालवा से संधि करना पाटन को दास बनाना है। काक खंभात भेज दिया जाता है जहाँ मुंजाल का स्थान लेने की इच्छा करने वाला ऊदो शासन कर रहा है और अपनी इस महत्वाकांक्षा के असफल हो जाने पर वह अपने राजनीतिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए वहाँ के जैनियों की धर्मान्धता को उकसाता रहता है। उदयन के हृदय में यह बात भी खटकी हुई है कि मुंजाल ने उसे कर्णावती से बहिष्कृत कर दिया है। खंभात की खाड़ी में प्रवेश करते ही उसे ज्ञात होता है कि यहाँ अजैन हिन्दुओं और मुसलमानों को जैन लोग अत्यन्त कष्ट दे रहे हैं और उन पर अत्याचार कर रहे हैं। यद्यपि वह राज-अतिथि है किन्तु वह साहसी भी है। उसे ज्ञात हुआ कि किसी वृद्ध के पुत्र को बलपूर्वक जैन दीक्षा दी जा रही है, अर्थात् उसे घर-बार छोड़कर मुनि हो जाने का व्रत दिलाया जारहा है, किन्तु प्रयत्न करने पर भी वह उस बालक को बचा नहीं सका। ठीक इसके पश्चात् उसे सूचना मिलती है कि प्रसिद्ध कवि स्व० रुद्रदत्त वाचस्पति की कन्या का बलपूर्वक उदयन के साथ विवाह कराया जारहा है और स्वयं उसकी माता इस विवाह के पक्ष में है। पुत्री मंजरी के विरोध करने पर माता ने उससे यही कहा कि या तो तू खंभात के शासक उदयन से विवाह करले या दीक्षा ले ले।

वह बन्दीगृह में डाल दी जाती है। अर्धरात्रि के समय काक बन्दी-गृह में प्रवेश करके पडिता मंजरी को कर्णावती ले भागता है। यद्यपि रूखे, कलाविहीन, अर्द्ध संस्कृत काक के साथ उसकी पटरी नहीं बैठती किन्तु फिर भी वह कृतज्ञ तो थी ही। उधर काक उसकी सुन्दरता और विद्वत्ता के संसर्ग में समझता था मानो उसने स्वर्ग पा लिया हो। कर्णावती पहुँचकर उसे समाचार मिला कि राजा नवघन से युद्ध करने के लिए त्रिभुवन पाल पांचाल गये हैं। काक भी पांचालेश्वर पहुँचता है और त्रिभुवन पाल से मिलता है। घनघोर युद्ध में नवघन की सेना नष्ट हो जाती है और वह जीवित पकड लिया जाता है।

पाटन के युवा राजा की इस विजय ने अवन्ती की आँखें खोल दीं। उबक पाटन में आया और राजसभा मे पहुँचकर उसने यह प्रस्ताव रखा कि पाटन और अवन्ती की भावी मैत्री सुरक्षित करने के लिए अवन्ती की कन्या का राजा जयदेव से विवाह स्वीकार हो। पाटन वालो ने भी समझा चलो यदि इतने से युद्ध की विपत्ति टल जाय तो कोई बुरी बात नहीं है।

किन्तु चाणक्य की शक्ति रखने वाले मुंजाल के लिए पराजय का प्रश्न नहीं था। और फिर मीनल के साथ मिलकर तो मानो उसकी शक्ति द्विगुणित होगई थी। जब तक मुंजाल है तब तक पाटन पर कोई विपत्ति नही आसकती। उन्होंने जयदेव से कहा कि तुम उबक का यह प्रस्ताव स्वीकार मत करो और उसे यह भी समझा दिया कि दूसरे दिन जब उबक आवे तब उसके साथ किस प्रकार व्यवहार किया जाय। दूसरा दिन होता है और मुंशीजी की विलक्षण निरीक्षण शक्ति कल्पनाका आश्रय लेकर इतनी प्रौढ और भव्य होजाती है कि इस उपन्यास का सबसे अधिक आकर्षक दृश्य पाठक के सम्मुख आ खडा होता है। राजसभा का वैभव, राजसभा के मंचो पर पाटन के शक्तिशाली वीरो का अपूर्व प्रदर्शन दोनों को देखकर उबक विस्मित हो जाता है और समझ लेता है कि पाटन अजेय है, कम-से-कम तब तक जब तक

मुंजाल का उस पर हाथ है। उसी सभा में पांचालेश्वर के युद्ध-वीरो को पुरस्कार मिलते हैं और निःशस्त्र जनता को पीडित करने के अभियोग पर ऊदो मेहता को भर्त्सना भी मिलती है। काक को महाराज बना दिया जाता है और फिर अत्यन्त तेजस्विता के साथ जयदेव घूमता है उबक की ओर, और अवन्तिराजकन्या के साथ विवाह को अस्वीकार कर देता है।

इसी बीच मंजरीका स्वप्नलोक आलोकित हो जाता है। उसके सभी नायक खुलने लगते है। 'पाटणनी प्रभुता'की प्रसन्न अब कारमीरा देवी हो गई है। पाटन में उसका मान है। वह बार-बार मंजरी को उकसाती है किन्तु मंजरी अपने को उस दिव्य भूमि में पहुँचा हुआ समझती है जिसके सम्मुख पृथ्वीका मानव अत्यन्त साधारण है भले ही वह वीर क्यों न हो, पराक्रमी क्यों न हो। उसके मस्तिष्कमें कालिदास की काव्यकला गूँज चुकी है। उसकी दृष्टि में वीरता के आदर्श परशुराम थे जिनके सम्मुख काक नगण्य है,तुच्छ है। काश्मीराके पूछने पर वह कह भी देती है—मनुष्यकी श्रेष्ठता केवल वीरता,धन और पदमे नहीं है। इसके लिए संस्कार और उदात्त भावना चाहिए। फिर भी उदयनसे बचने के लिए काकसे विवाह करनेको वह सहमत हो जाती है,किन्तु काकसे यह वचन ले लेती है कि विवाह होने के उपरान्त मुझे अपने पितामह के घर भेज दिया जाय। काक स्वीकार कर लेता है और मंजरी के प्रयत्न से विवाह तो हो जाता है किन्तु काक भी उदास हो जाता है और मानिनी मंजरी अपने अनिश्चित भविष्यके लिए व्याकुल होजाती है। दोनोंका मन न मिलने के कारण अनबन बनी रहती है और बात यहाँ तक बढ़ जाती है कि काक उसे जूनागढ़ पहुँचानेको तैयार हो जाता है। किन्तु इसी बीच मंजरी ऊदो के हाथ मे पड़ जाती है और किसी सुदूर देश मे ले जाई जा कर बन्दी कर दी जाती है।

कीर्तिदेव आकर मुंजाल से मिलता है और प्रार्थना करता है कि आप गुजरात और भारत के सभी राजाओं को एक सूत्र

में बाँधकर उत्तर से आनेवाले मुसलमान आक्रमणकारियों से देश की रक्षा करे। किन्तु मुंजाल समझता है कि यह सब अपने-अपने चक्रवर्तित्व के लिए स्वार्थपूर्ण प्रयत्न है। वह अस्वीकार कर देता है और कीर्तिदेव बहुत-कुछ बुरा-भला कहकर चला जाता है। इसी बीच मुंजाल की एकान्तता, उदासी और अधीरता को लक्ष्य करके यहां मीनल और काश्मीरा यह प्रयत्न करती रही कि मुंजाल दूसरा विवाह करले, यहाँ तक कि मीनल ने अपना हृदय खोलकर रख दिया—हम लोग चाहे जितनी भी सामाजिक नैतिकता का पालन करते हुए अलग रहे किन्तु हमारे प्रेम के मूल मे पाप जमा हुआ है। हमारे हृदय एक साथ बोलते हैं यह बन्द होना चाहिए। किन्तु मुंजाल मीनल की उदारता से प्रभावित होकर भी यह कह देता है कि इस प्रेम की पूर्ति से अच्छा है स्वार्थत्याग और आत्मत्याग। फिर एक बार शुद्ध और दैवी प्रेम की विजय होती है।

मुंजाल के आदेश से कीर्तिदेव बन्दी कर लिया जाता है और संयोग से जहाँ मंजरी है वहीं पहुंचा दिया जाता है। मंजरी के लोप का रहस्य काककी समझमें नहीं आता किन्तु किसी प्रकार काक घूम-घाम कर प्रयत्न करके मंजरी का पता लगा लेता है और उसे वन्दीगृह से छुडा लेता है। वहीं मंजरीके मुखसे उसे यह भी ज्ञात होताहै कि कीर्तिदेव भी उसी बन्दीगृह में है और उसे भी छुडाना चाहिए। काक ने कीर्तिदेव को छुड़ाने का प्रयत्न किया ही था कि इसी समय मुंजाल आकर कीर्तिदेव से वन्दीगृह में मिलता है और कहता है कि तुम जयदेव के शासन मे पद-ग्रहण कर लो। किन्तु मानी कीर्तिदेव मुंजाल का प्रस्ताव ठुकरा देता है। वहीं मुंजाल और कीर्तिदेवमें गरमा-गरम शास्त्रार्थ होता है और ज्योंही मुंजाल अपना हाथ कीर्तिदेव को मारने के लिए उठाता है त्योंही काक पकड़ लेता है। काक मंजरी को मुक्त कर देता है और वहीं कीर्तिदेव को यह ज्ञात होता है कि वह स्वयं मुंजालका पुत्र है। पिता और पुत्र की बड़ी करुणाजनक भेंट होती है। मंजरी का मन स्वस्थ हो जाता है। यों तो

वह कुछ-कुछ काक को समझने लगी थी और उसके गुणों का आदर करने लगी थी किन्तु उसे अब यह भी विश्वास होगया कि वह वरणीय भी है।

जयदेव ने सोरठ की सुन्दरी रणक की बड़ी प्रशंसा सुनी थी। उसने काक को बुलाया और रणक के पिता के पास विवाह का संदेश देकर भेजा। मार्ग में खेंगार से भेंट हुई। नवघन के वृद्ध राजा से खेंगार ने ही यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं जयदेव से बदला लूंगा किन्तु वह बदला न ले सका। काक के साहसपूर्ण युद्ध कौशल से ऊदो, नवघन, खेंगार और कालभैरव सब जीत लिये गए यहाँ तक कि उसकी इस अलौकिक वीरता पर विद्रोहिणी मंजरी भी मुग्ध हो उठी। उसका व्यवहार बदल गया। दो विरुद्ध दिशाओं में बहती हुई धाराएं एक होकर बहने लगीं। काक और मंजरी एक हो गए।

काक ने खेंगार से मित्रता बढ़ाई, पर देखा कि रणक खेंगार के साथ है और खेंगार से प्रेम भी करती है। किन्तु जयदेवके सैनिक निरन्तर उन का पीछा कर रहे थे और एक बार तो ऐसा हुआ कि काक ने उन्हें पीछा करते हुए सैनिकों से बचा निकालने के लिए सहायता भी दी। इस पर वह बन्दी कर लिया जाता है और जयदेव के सम्मुख लाया जाता है। जयदेव के क्रोध की सीमा नहीं क्योंकि जयदेव के सम्मान को बडी ठेस लगी है। मीनल नहीं चाहती थी कि उसके पुत्र जयदेव का विवाह रणक से हो और वह काक की असफलता पर प्रसन्न ही हुई। मीनल और मुंजाल ने जूनागढ पर आक्रमण करने की योजना बनाई। उधर लाट मे विद्रोह हुआ और त्रिभुवन को भेज दिया गया विद्रोह शान्त करने। कीर्तिदेव का पालनपोषण अवन्ती में हुआ था। वह अपने पालक देश में जाकर उसकी सेवा करना चाहता था। मुंजाल ने अपने पुत्र को अवन्ती भेज दिया। त्रिभुवनपाल गये, कीर्तिदेव गये, काक भी गया और विशाल वट वृक्ष की भाँति पाटन में फिर एक ही महान् व्यक्तित्व रह गया मुंजाल का—अविचल और दृढ़—जिसके इस एका-

जीवन मे अत्यन्त करुणा तो है किन्तु महत्ता भी है।

: ४ :

राजाधिराज

इस ऐतिहासिक उपन्यासत्रयी का तीसरा खण्ड है राजाधिराज— अनेकों दृश्यों, घटनाओं और चरित्रो से भरा हुआ। अन्य दोनों उपन्यासों के समान मुंजाल और मीनल ही अदृष्ट शक्तियाँ बनकर इसमें भी प्रेरणा कर रही हैं। जयदेव ने सोरठ पर चढाई कर दी। वर्षों युद्ध चला। गुजरात का बहुत-सा भाग जयदेव ने जीत लिया किन्तु जूनागढ़ का दुर्ग अगम बना रहा। वह भी जीतना ही पडेगा। उसके हृदय में रणक बसी हुई थी और उसे प्राप्त करने में उसने अपनी सब शक्ति लगा दी। उसने मृगुकच्छ के शासक काक को सहायता के लिए बुलाया। उसके जाते ही लाट के देशभक्त विद्रोहियों ने पाटन का जुआ कन्धे पर से उतार फेकने के लिए विद्रोहपूर्ण संगठन किया। वीरपत्नी मंजरी ने अद्भुत धैर्य, कौशल और शक्ति के साथ उनका सामना किया और दुर्ग में जाकर जमकर बैठ गई।

उधर जूनागढ़ का युद्ध समाप्त हुआ। खेंगार की वीरतापूर्ण मृत्यु हुई और दुखिया रणक को जयदेव इस आशा से हर ले आया कि वह जयदेव से विवाह कर लेगी। किन्तु रणक दृढ़ थी। मुंशीजी की लेखनी फिर यहाँ जागरुक होकर अत्यन्त भयानक और लोमहर्षक चित्र उपस्थित करती है। रणक के अस्वीकार करने पर जयदेव आपे से बाहर हो जाता है और बलपूर्वक रणक से विवाह करना चाहता है। ठीक उसी समय जहाँ वढवान मे जयदेव डेरा जमाए पड़ा हुआ था, काक भी आ पहुचता है और खेंगार के मित्र होने के नाते रणक के सतीत्व की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझता है। पहले तो उसने जयदेव से प्रार्थना की किन्तु जब वह नहीं माना तो काक ने जयदेव को कालकोठरी में बन्दी कर दिया। उसी समय मुंजाल, मीनल और जयसिह की रानी लीलावती आजाती हैं और रणक की रक्षा होजाती है। रणक भी तत्काल

घोघवा (घोघवई, घोववती) नदी के किनारे अपने स्वामी के साथ चिता पर सती हो जाती है।

काक को समाचार मिलता है कि भृगुकच्छ में अकेली मंजरी विद्रोहियों का सामना कर रही है और दुर्ग मे अधिकांश लोग भूख से मरे जा रहे हैं। मंजरी भी काक के लिए चिल्लाती हुई,थकी हुई,जीवन और मृत्यु के बीच लटकी हुई है। जिस समय काक पहुँचता है उस समय मंजरी की अन्तिम श्वास चल रही है और काक के हाथ में सिर डालकर मंजरी वह अन्तिम श्वास छोड़ देती है। जिस संयम, स्वाभाविकता और निर्भयता के साथ मुंशीजी की कला ने मंजरी की मृत्यु का चित्रण किया है वह प्रशंसनीय है किन्तु कला की दृष्टि से यह मृत्यु वांछनीय और आवश्यक नहीं समझी जा सकती। इस दृश्य की महत्ता, भयंकरता, और उदात्तता मंजरी को जीवित रखकर भी प्रतिष्ठित की जा सकती थी। किन्तु न जाने क्यो मुंशीजी को मंजरी का अन्त ही अभीष्ट था। यह अन्त केवल करुण ही नहीं है, त्रासजनक भी है। इससे केवल काक के हृदय को ही आघात नहीं पहुँचता, पाठक का हृदय भी विदीर्ण हो जाता है। किन्तु मुंशीजी जीवन का चित्रण करते हैं। वे केवल सुख-समाप्ति के लिए अपनी कला का बलिदान नहीं करना चाहते। अन्त में वि० सं० ११६६ की आषाढ प्रतिपदा के दिन गुजरात के राजाधिराज जयदेव की भृगुकच्छ की विजय-यात्रा निकलती है। मुंजाल, काक और अनेक वीरों की भीड पीछे-पीछे चल रही है। प्रधान सेनाधिपति काक है और यद्यपि मंजरी नही रही किन्तु उसकी इच्छा पूरी हो गई। भृगुकच्छ की वीथियो पर राजपथों पर दुर्ग पर राजपताका फहरा रही है और सारा भृगुकच्छ 'जयसोमनाथ' के कर्णवेधी जयघोषों से गूंज रहा है।

: ९ :

पृथ्वीवल्लभ

पृथ्वीवल्लभ यों तो ऐतिहासिक उपन्यास है किन्तु यदि इसकी शैली

का निरूपण किया जाय तो इसकी संगति गद्यकाव्य के साथ अधिक बैठती है। कला की दृष्टि से यह उत्कृष्टतम है क्योंकि इसमें लेखक ने अपनी पूर्ण काव्य भावना अत्यन्त मनोरम ढँग से भर दी है। इसमे प्रसिद्ध राजा मुंज के अन्तिम दिनो का वर्णन है। मुंज विक्रम सं० १०५२ के लगभग अवन्ती के राजा थे। कथा का संपूर्ण घटनाचक्र दो अद्‌भुत चरित्रों के चारों ओर घूमता है—मुंज और मृणालदेवी या अपभ्रंश ग्रन्थों की मुणाल वई (मृणालवती)। मुंज मानवीय वीरता का विशुद्धतम आदर्श है। अपनी अद्भुत शक्ति, पराक्रम, मानवता और सौंदर्य लेकर वह जीवन-शक्ति का परम आकर्षक समन्वय बन गया है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि वह पूर्ण मनुष्य है। सौंदर्य की ओर उसकी स्वाभाविक रुचि है और जीवन की भी उसे ममता है किन्तु अन्त में जब जीवन के शारीरिक बंधन टूटने को होते हैं उस समय उसका मस्तिष्क, उसका भावलोक सहसा ऊँचे उठने लगता है और सत्यलोक को स्पर्श करता दिखाई देता है।

और मृणाल देवी, वह भी मनस्तत्व के अध्ययन की मानो पूर्ण सामग्री है। उसका सविकार चित्त से स्वस्थ चित्त की ओर उन्नत होना ही उस कथाकी धारा है। उसका चित्रण करनेमे मुंशीजीने नारीके जटिल हृदय की समस्त उलझने और सूक्ष्म गाँठे खोल-खोलकर वैज्ञानिक के समान अलग-अलग कर दी हैं और जिन क्षणो में आत्मा पथ-भ्रष्ट होकर धर्म खोजने में असफल हो जाती है, आत्म-निर्णय का आधार शिथिल होकर धराशायी हो जाता है, द्विविधा की मथानी मन को मथ-मथकर हतप्रभ कर देती है उस समय जिस दृढता, सहानुभूति और कौशल के साथ चरित्रों और घटनाओ का निर्वाह मुंशीजी ने किया है वह बहुत कम उपन्यासकारो में मिलती है। अतमे पथभ्रष्ट आत्मा को फिर सुपथ पर ला देने का प्रयास भी कम प्रशंसनीय नही है। मुंज और मृणाल सौंदर्य की ज्योत्सना में नहा उठते हैं।

जिन्होंने यूनानी त्रासद प्रोमेथेउस बाउण्ड पढ़ा होगा उन्हे

बन्दीगृह में श्रृंखलाबद्ध मुंज की कल्पना करने में कठिनाई न होगी। वही वीरतापूर्ण आवेश मुंज के भाल पर अंकित है। मृत्यु से खेलने की लालसा और उत्साह उसके मुख मंडल पर आसमान है। वह बंदीगृह मे नही मृत्यु के मुख मे जी रहा है। इतना महान व्यक्ति, अद्वितीय पौरुष के अलंकार से सुसज्जित सहसा इतने क्लेश और दुःख की अग्नि में झोंक दिया जाय यह एक अद्भुत रहस्यमय बात है। जान पड़ता है कि कुछ लोग मुंज की श्रेष्ठता, सज्जनता और सुन्दरता को नष्ट करने पर उतारू हो गए है और जहाँ-जहाँ मुंज और तैलप आमने-सामने मिलते है वहाँ विचित्र प्रकार की दुर्भाग्य रेखा सहसा उसके जीवन पथ पर लीक डालती चली जाती है। अंतिम दृश्य मे जो दैवी करुणा उत्पन्न की गई है वह हमें स्मरण दिलाती है कि किस प्रकार यह संसार अपने विचित्र नियमों से अपनी असंगति घोषित कर रहा है। जो भी उसे समाप्त करने या उसे प्रेम करने के लिए आगे बढ़ता है मुंज उसी का विरोध करता है। उसकी मृत्यु मनुष्यकी उत्कृष्टता और उसके अजेय मस्तिष्क की घोषणा करती है। हमें यह विश्वास होता है, ढाढ़स मिलता है कि उसकी मृत्यु में जीवन के तात्विक सिद्धांतों का समर्थन और पोषण होता है। उसमे कही निराशावाद नही है। संसार की तुच्छता नीचता, पशुता और असहनशीलता समाप्त हो जाती है और एक विशिष्ट प्रकार की आत्मिक प्रसन्नता खिल उठती है मानो संसार में कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिस पर आंसू बहाए जायं, छाती पीटी जाय। इसमें घृणा नहीं है, अपयश नही है, आरोप नहीं है मानो यहां जो होता है वह सब कल्याणमय, मंगलमय होता है और जिस मृत्यु की विभीषिका से अधिकांश प्राणि-समाज त्रस्त और भयभीत-सा रहता है उसे भी यह विश्वास हो जाता है कि मृत्यु कितनी सुन्दर है, स्पृहणीय है।

इस उपन्यास मे कथा-सामग्री और कला दोनों का मधुर समन्वय है और मुंशीजी के व्यक्तिगत अनुभव की एक विचित्र आभा इसके सब अध्यायो में निरन्तर चमकती रहती है। यह शुद्ध काव्य है, मनुष्य

को ऊपर उठा देने वाला। कीट्स ने सर एलेग्जेंडर पोप की कविता पर टिप्पणी और आलोचना करते हुए कविता की कसौटी बताई है कि कविता उस मित्र के समान होनी चाहिए जो मनुष्य की चिन्ताओं का शमन करे और उसके विचारों को ऊपर उठावे। ठीक वही बात इस उपन्यास में भी होती है। आश्चर्यजनक सौंदर्य और ओज से भरे हुए भावपूर्ण संवाद, संगीत और चित्रण की मधुर बुनावट, आह्लादकारी शब्दो और अलौकिक शक्तियो से भरे हुए चरित्र इस पृथ्वीवल्लभ की कला के मधुर प्रसाद हैं।

इसकी कथा इस प्रकार है। सं० १०५२ वि० मे पराक्रमी मुंज ने अपने कौशल और शक्ति से देश-भर के सब राजाओ को अपने छत्र के नीचे एकत्र कर लिया। जितनी शक्तिशाली उसकी तलवार है उतनी ही शक्तिशाली उसकी लेखनी भी है और इसलिए अवन्ती मे उसकी सभा कवियों, कलाकारो और विद्वानों से विभूषित है। इसी बीच उसके पुराने पराजित शत्रु तैलगान के राजा तैलप ने अपने चत्रप मित्र की सहायता लेकर मुंज को परास्त कर दिया। मुंज बन्द बना लिया गया और तैलगान की राजधानी मान्यखेट मे पहुचा दिया गया।

किन्तु तैलगान की वास्तविक शासिका थी छत्तीस वर्षीया मृणाल देवी, तैलप की बहिन। उसीने तैलप को पाल-पोस कर बड़ा किया था। सोलह वर्ष की कच्ची अवस्था मे उसे वैधव्य भोगना पडा और सबसे कठोर आत्म-संयम से उसने जीवन की सबसे अधिक पिच्छल अवस्था के बीस वर्ष निकाल दिये और इस संयम का दुष्परिणाम यह हुआ कि उसे जीवन से ही विरक्ति हो गई। उसके हृदय की स्वाभाविक करुणा का स्रोत सूख गया और मानवीय उदात्त वृत्तियो की सब लताएँ कुम्हला गईं। तब वह संपूर्ण कोमल भावनाओ की केन्द्रस्थली नारी से बदलकर कठोरता की पिटारी बन गई। वह स्वयं तो कठोर बनती ही जा रही थी किन्तु उसने अपने ही साँचे मे अपने राज्य को भी ढाल दिया। कविता, संगीत, कला, उत्सव, हास्य, विनोद, प्रसन्नता सबका

गला घोट दिया गया, और औरंगजेब के शासन के समान इन सबको इतने गहरे गढे में खोदकर दाब दिया गया कि वे फिर न पनप पाएं। मृणालदेवी विरक्ति का ढोंग रचकर धर्म की ओट बनाकर रहने लगी। मुंज की पराजय ने उसके अभिमान को और भी उकसा दिया और अब उसके मन में यह बर्बरता जाग उठी कि मुंज को अपमानित किया जाय, लांछित किया जाय और तिल-तिलकर उसे मार डाला जाय।

बन्दी मुंज को लेकर तैलप नगर मे प्रवेश करता है और सहसा सब आँखें देवतुल्य, पराक्रम, पौरुष और सौंदर्य से ओत-प्रोत मुंज की ओर खिंच जाती हैं। मृणाल देवी भी उसकी जादूभरी मुस्कान से प्रभावित हुए बिना नहीं बचतीं। तैलप इससे विक्षुब्ध हो जाता है और मुंज को तत्काल समाप्त कर देना चाहता है किन्तु मृणाल पहले उसके मन और आत्मा को खण्ड-खण्ड करके चूर कर देना चाहती है और तब उसके शरीर को इस निर्दय के अनुसार वह राज-बन्दी काष्ठ-पिंजर में डाल दिया जाता है।

कठोर हृदय मृणालको यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य होता है कि इस पिंजरे में भी मुंज प्रसन्न है। वह समझती है कि मुंज निर्लज्ज है और उसे इस प्रसन्नता का दण्ड मिलना ही चाहिए। वह तर्जन और कठोर शब्दों के द्वारा मुंज को डराना चाहती है किन्तु साथ ही उसके मनमें एक विचित्र प्रकार की मधुर सनसनी भी है। उससे वह और भी अधिक क्रुद्ध हो जाती है। वह मुंज के प्रभामय व्यक्तित्व से तिरोहित हो जाती है। मुंज भाँप जाते हैं और कह भी देते हैं 'तुम मुझे जीतने आई थी किन्तु तुम स्वयं पराजित हो गईं, इससे बढकर प्रसन्नता और क्या हो सकती है। सचमुच तुमने बड़ी भूल की।' वहाँ से वह कुढ़कर चली तो जाती है किन्तु अपने हृदय की व्यथा को भी वह भुला नहीं पाई।

मुंज को यूपकाष्ठ मे बाँधकर वधभूमि मे खड़ा कर दिया गया है और नागरिको को आमंत्रण दिया गया है कि वे आकर उसे गाली

दें, उसकी खिल्ली उड़ावें, उस पर थूकें और उसे पत्थरों से मार-मार कर समाप्त कर दें। किन्तु यह क्या ? जो लोग वहां आये वे तत्काल उसके वशीभूत हो गए, उनकी वाणी स्तब्ध हो गई, उनके हाथ रुक गए मानो वे सभी उसके पुराने सेवक हैं।

रात्रि के समय मृणाल बन्दीगृह में आती है। उसके क्रोधावृत मुख-मण्डल को देखकर प्रहरी भयभीत हो जाते हैं, बन्दीगृह के द्वार खुलते हैं, प्रहरी बाहर से हट जाता है। मुंज और मृणालके बीच अत्यन्त रोमांचकारी संवाद प्रारम्भ हो जाता है। अत्यन्त माधुर्य और आशातीत स्नेह के साथ जब मुंजने कहा—'स्वागत है मैं आपकी प्रतीक्षा कर रहा था, इन शब्दों ने मृणाल के हृदय की संपूर्ण कठोरता का कवच टुकड़े-टुकड़े करके बिखेर दिया और मृणाल इस प्रकार खड़ी रही मानो वह निःशस्त्र हो गई हो, निस्तेज हो गई हो। फिर एक ओर मुंज प्रेम और सुखका संपूर्ण संसार खोलकर मृणाल के सम्मुख रख देता है जिसके एक-एक अध्याय पर मृणालकी त्योरियां चढ़ जाती हैं,यहाँ तक कि मृणाल कसकर मुंज के गाल पर एक हाथ चला देती है और मुंज उसे खींचकर हृदय से लगा लेता है,चुम्बन कर लेता है। मृणाल राक्षसी हो उठती है। मुंज के हाथ बँधवा दिए जाते हैं और जिन हाथों से मुंज ने मृणाल को स्पर्श किया है वे भी भालों के तप्त लोहफलक से दाग दिये जाते हैं। किन्तु मुंज के मुख पर तनिक भी विकार नहीं आता, वह विचलित नहीं होता और जब थोड़ा-सा हाथ जलता है, जलते हुए मांस की गन्ध फैलती है और मृणाल कहती है बस 'तो मुंज बोल उठता है—'बस,इतना ही। यदि मैं जानता कि 'आप इतने से ही सन्तुष्ट हो जायंगी तो मैं अपना सारा हाथ जलवा लेता।' उत्तरहीन मृणाल जाने के लिए घूमी और पीछे से उसने सुना—'मृणालवती कल अवश्य आना इस घाव का उपचार करने।' वह जाती तो है किन्तु क्रोध और हर्ष का विचित्र मानसिक द्वन्द्व लिये हुए जाती है। दुर्दमनीय भावनाओं से उसका मन मथा जा रहा है। वह मुंज से युद्ध करना

चाहती है किन्तु उसे अपनी पराजय दिखाई पड़ती है। उसकी तीस -बरस की तपस्या और उसकी राज शक्ति कोई भी मुंज को तिल-भर झुका नहीं सकी। उलटे उसके मन में इस द्वन्द्व ने एक नई वासना जगा दी।

राजसभा में लाकर मुंज को आज्ञा दी जाती है कि विजेता के पैर धोओ तभी मुक्ति मिल सकती है। किन्तु प्राणसे बढ़कर आनको समझने वाले मुंज जैसे वीर भला यह प्रस्ताव कब मानने लगे। वह तत्काल जल के पात्र मे लात लगाता है और इस प्रस्ताव की भी खिल्ली उड़ाता है। तैल पकोप से तलवार निकाल लेता है किन्तु मृणाल बीच में रोक लेती है और कहती है कि निःशस्त्र बन्दी को मारना आर्य धर्म के विरुद्ध है।

मृणाल के हृदय का विक्षोभ बढ़ जाता है। वह बन्दीगृह में पहुँच कर अपनी पराजय स्वीकार कर लेती है और मुंज के साथ अवन्ती भाग जाने को उद्यत हो जाती है। इसी बीच भिल्लम की पत्नी लक्ष्मीदेवी की सहायता से अवन्ती के कवि रसनिधि बन्दीगृह में मुंज से मिलते हैं और चुपचाप निकल भागने की सम्मति देते हैं, किन्तु मुंज हँस देता है और अपने नए प्रेम की कथा सुनाता हुआ कहता है—'कल आना जिससे मृणाल भी साथ चल सके।' वे लोग लौट जाते हैं।

इस बीच मृणाल एक भूल कर बैठती है। अपने मानसिक द्वन्द्व में वह सत्याश्रय को बुलाती है और कवियों का षड्यंत्र बता देती है और यह भी कह देती है कि यह षड्यंत्र तो फोड़ ही देना किन्तु देखो मुंज पर कोई आँच न आवे। निश्चित समय पर रसनिधि भोज और उसका दल आता है, झगड़ा प्रारम्भ हो जाता है, युद्ध होता है। इस सब झगड़े मे भिल्लम की पुत्री विलास जो तैलप के पुत्र सत्याश्रय से व्याही जाने वाली थी सत्याश्रय के हाथों मारी जाती है। उधर तैलप को जब अपनी बहिन के चरित्र का ज्ञान होता है तो वह मृणाल को बहुत झिड़कता है और उनमें कलह होने लगता है।

नगर भरमें घोषणा होजाती है कि मुंज सात दिन तक घर-घर भिक्षा मांगेगा और अन्तिम दिन समाप्त कर दिया जायगा। बन्दी मुंज हाथमे भिक्षापात्र लेकर मान्यखेट (वर्तमान मालखेड़) नगर मे द्वार-द्वार घूमता है। उसके तेज में कोई कमी नहीं हुई, उसके मनमें विचार नहीं आया। वह निर्भय होकर दुर्भाग्य से सामना करने के लिए प्रस्तुत है, यह जानकर भी कि अन्तिम दिन हाथी के पैर के नीचे उसे कुचल दिया जायगा। वह सब लोगों से मुस्करा कर हँसी विनोद करता है। तैलप प्रसन्न है, मृणाल अस्वस्थ हो चली है, किन्तु भावुक प्रेमीकी अपराजित कोमलता के साथ मुंज उसे सांत्वना देता है। और फिर अन्तिम दिन पृथ्वी वल्लभ मुंज खड़े हैं, हाथी खड़ा हुआ है और मुंज उसकी सूंड पर हाथ फेर रहे है। सहसा वे हाथी की सूंडमे लिपट जाते हैं और हाथी उन्हें ऊपर उठा लेता है। हाथी बार-बार मुंज को ऊपर उठाता है और नीचे गिराता है। उसके पश्चात् हाथी एक झटका और देता है, मुंज चिल्लाकर जयघोष करते हैं—जय महाकाल। खड़ी हुई भीड़ भय से कांप उठती है। मृणालवती की करुण चीत्कार आकाश भेद कर निकल जाती है। हाथी के पैर के नीचे मुंजके शरीरकी हड्डियां एक बार कड़कती हैं और पृथ्वी वल्लभ का शव रक्त-रंजित होकर पिसा हुआ पड़ा रह जाता है।

सामाजिक उपन्यास

प्रायः संसार के बड़े-बड़े उपन्यासकारों ने उपन्यास की कथाओं और चरित्रों मे अपने व्यक्तिगत अनुभवों की छाया भरी है। उस परम्परा से विशेषतः अंग्रेजी उपन्यास से परिचय रखने वाले मुंशीजी अपने को मुक्त न कर सके और स्वाभाविक रूप से उन्होंने अपने कथानकों और चरित्रों मे अपनी अनुभूत घटनाओं और अपने संपर्क में आने वाले व्यक्तियो का चित्रण किया है। उनके सामाजिक उपन्यासों का समाज उनका स्वयं अनुभूत समाज है जिसमें वे उत्पन्न हुए, जिसमें पले और जिसमे बड़े हुए।

: १ :

वैरनी वसूलात

मुंशीजी ने भूमिका में कह दिया है कि यह उपन्यास उन दृश्यों और भावनाओं का परिणाम है जो उन्होंने स्वतः देखी और अनुभव की है और साथ ही उन विशिष्ट व्यक्तियों को चित्रित करने की आकांक्षा निहित है जो उनके सम्पर्क में आये। इस उपन्यास के तीन खण्ड हैं। मुंशीजी को यह उपन्यास अधिक प्यारा है। इसमें प्रारम्भ में रतनगढ़ राज्य के कुचक्रों और षड्यन्त्रों का, हिन्दू परिवारों के घरेलू जीवन और आचारों का, और साधुओं के जीवन और व्यवसाय का वर्णन है। इन्हे छोड़कर और सब बातो में इस उपन्यास ने एक नया पथ पकड़ा है।

कथा यह है कि जगत किशोर अपनी विधवा माता गुणवन्ती के साथ अपने स्वर्गीय पिता के मित्र रघुभाई के साथ रहता है। एक दिन अचानक रात को वह अपनी मां के पास से हटा दिया जाता है क्योंकि रघुभाई की गुणवन्ती पर कुदृष्टि है। किन्तु इस घटना से जगत्‌किशोर

के शिशु मस्तिष्क पर बड़ा धक्का लगता है और वह रघुभाई से घृणा करने लगता है। यह घृणा उस दिन और भी विकराल रूप धारण कर लेती है जब गुणवन्ती के पास ही रघुभाई खडा हुआ उसकी ओर ईर्ष्या से देखता है। वह उसी दिन निश्चय कर लेता है कि मैं इसका बदला लूँगा। इसी बीच उसे ज्ञात होता है कि उसकी बचपन की सखी और प्यारी तनमन एक दुष्ट धनी सेठ करमदास त्रिभुवनदास से ब्याह दी गई है। और इस दुष्कार्य में सहायता की है तनमन की सौतेली मां गुलाबबाई ने और उसके सहायक श्यामदास ने। तनमन बम्बई पहुँचती है जहाँ उसके साथ कोई बोलने बात करने को नही है। हाँ, एक लडकी रामा है—उसके भाडेवाले रघुभाई की लड़की जो रतनगढ के दीवानपद पाने के प्रयत्न में असफल होकर बम्बई चला आया है। थोडे दिनों मे तनमन की मृत्यु हो जाती है और रामा ही अन्त तक उसकी विश्वास-पात्रा और सच्ची सखी रहती है।

अपनी माता और प्रियतमा की मृत्यु हो जाने पर जगत्किशोर को बड़ा धक्का लगता है और वह आत्महत्या की सोचता है किन्तु मठ के स्वामी अनन्तानन्द की कृपा से उसकी रक्षा हो जाती है और उसका नाम सिद्धनाथ हो जाता है। इसी बीच रघुभाई रतनगढ के राज्य के समान उस मठ को भी उखाड फेंकना चाहता है। अब तो वह निश्चय कर लेता है कि अपने और आश्रम दोनो के हित के लिए रघुभाई का विनाश आवश्यक है। इस उद्देश्य से वह बम्बई जाता है। रघुभाई से फिर नाता जोडता है और रघुभाई भी इस आशा से उसे प्रोत्साहन देता है कि रामा का विवाह जगत्किशोर से हो जाय। जगत्किशोर तो चाहता ही था कि धीरे धीरे सम्बन्ध बढाकर वह रामा का सम्बन्ध अस्वीकार कर दे और इस प्रकार रघुभाई और उसकी कन्या का हृदय भेदकर अपनी माता के कष्ट का प्रतिशोध करे। किन्तु रघुभाई साधारण नही था वह इतना पक्का था कि जब जगत्किशोर ने सम्बन्ध अस्वीकार कर दिया तब उसका हृदय तो नही टूटा, किन्तु रामा का हृदय टूट गया।

इसी बीच एक हत्या हो जाती है और अनन्तानन्द वहाँ पहुंचकर देखते हैं कि जगत्‌किशोर भागा जा रहा है और वे समझते हैं कि उसीने हत्या की है। उसे और संस्था को बचाने के लिए वे सारा दोष अपने ऊपर ले लेते हैं। यद्यपि वह हत्या तनमन की सौतेली मां गुलाबबाई ने की थी किन्तु अनन्तानन्द जी की इस परहितनिष्ठा को देखकर जगत्‌-किशोर उनके पास गया। उस समय उन्होंने बडी सुन्दर नैतिक भाषा में अपने शिष्य से कहा कि दूसरे को पीडा देने में और स्वयं पीडित होने में कोई अन्तर नही है प्रतिशोध स्वयं अपने आप होता है। स्वामी अनन्तानन्द जी की बात सुनकर जगत्‌किशोर की बुद्धि लौट आती है और वह रामा से विवाह कर लेता है। रामा को फिर से प्रसन्न और सुखी बना देता है।

: २ :

कोनो वॉक

मुंशीजी का दूसरा उपन्यास है कोनोवाँक (किसका दोष) १९२४। वेरनी वसूलात में जिन सामाजिक बुराइयों और दोषों को मुंशीजी ने केवल स्पर्श करके छोड़ दिया था उन पर इस उपन्यास मे गहरी चोट की गई है। समाज मे विधवाओं की दुर्दशा, अनिच्छा विवाह, जाति के बन्धन और ऐसी ही अनेक बुराइयो पर मुंशीजी उबल पडे हैं। उप-न्यास की भूमिका में ही वे कहते हैं—"जब तक स्त्रियों की निस्सहायता, दासता और दुर्दशा पर समाज की नीव टिकी रहेगी, जब तक हम विवाह के प्रश्न का स्वाभाविक रूप से समाधान करने के लिए उद्यत न होंगे, जब तक रूढ़ और जीर्ण नियमों का पालन करना ही पुरुषत्व समझा जायगा और जब तक हमारा समाज मानव हृदय मे शुद्ध और नैतिक भावनाओ को उन्नत करने की अपेक्षा उन्हे दबाने में ही गर्व समझेगा तब तक यह कहानियाँ अनावश्यक और अनुचित नही समझी जायंगी।" इस उपन्यास में मुंशीजी ने सामाजिक निर्दयता और रूढ़िवाद के दो

मुख्य आखेटों का चरित्र-चित्रण किया है। यद्यपि यह उपन्यास भी वेरनी वसूलात के समान अत्यन्त गंभीर है फिर भी इसमें कहीं-कहीं पाठक को व्यंग विनोद के कारण कुछ मनस्तोष मिल जाता है।

कथा यह है—मणि आठ वर्ष की कच्ची अवस्था में अपने विवाह से एक मास पश्चात् ही विधवा हो जाती है। थोड़े दिनों पश्चात् वह अपनी ससुराल चली जाती है और वहां सबकी दस बातें सुनती हुई, सबकी सहती हुई तेली के बैल के समान दिनभर घर के काम में जुती रहती है। इसी निराशा में उसे एक लड़की हो जाती है सुरेखा। घर वाले उसे निकाल देते हैं और वह इधर-उधर मारी मारी फिरने लगती है। तुंगभद्रा जैसी कुलटा स्त्रियों और बने हुए योगियों के फेर में पड़कर वह लट्टू बनी घूमती है और अन्त में इन सबसे बचकर वह निकल भागती है और कानून के विद्यार्थी मुचकुन्द की शरण ले लेती है। मुचकुन्द उससे विवाह करने को उद्यत हो जाता है किन्तु उसके माता-पिता और समाज उसकी एक न मानकर उसका विवाह एक अत्यन्त अशिक्षित और कर्कशा कन्या काशी से कर देते हैं। वह मुचकुन्द का जीवन दुःखमय कर देती है और वह रोगी हो जाता है। उधर मणि विपत्तियों की सताई हुई अपमान और कष्टों का सामना करती हुई, अपनी प्यारी पुत्री सुरेखाकी मृत्यु को छाती पर पत्थर रखकर सहती हुई, मुचकुन्द को मृत्यु से बचा लेती है। मणि ने जिस कृतज्ञता, त्याग, सहिष्णुता और भक्ति के साथ मुचकुन्द की सेवा की है उससे मणि हमारी दृष्टि मे बहुत ऊँचे उठ जाती है। अन्त में वह मुचकुन्द से कहती है कि काशी के साथ मुझे भी घर मे रहने दो। थोड़े दिनों मे काशी की मृत्यु हो जाती है और मणि से मुचकुन्द का विवाह हो जाता है। उसने जो सेवाएं की थीं उनका उसे पुरस्कार मिल जाता है।

इस उपन्यास में मणि के दुर्भाग्य की कथा अत्यन्त विशद, सुन्दर, भावोत्तेजक और पुष्ट रूप में कही गई है। वह समाज का वास्तव मे ऐसा अंग है जिस पर समाज को फिर से विचार करना चाहिए किन्तु

उस कथा में मुचकुन्द के साथ मणि का गठबन्धन और मणि का मुचकुन्द के लिए इतना त्याग और इतना कष्ट—यह हमारे समाज में नहीं है। परित्यक्ता और विधवा नारी में इतना बल ही नही रहने दिया जाता कि वह अपने आत्मा के चमत्कृत अंश की अभिव्यक्ति कर सके। मुचकुन्द का आदर्शवाद भी शुद्ध, सात्विक आदर्शवाद नहीं कहा जा सकता। केवल विधवा की रक्षा करने के लिए ही मुचकुन्द की उदात्त वृत्तियाँ जागृत नहीं होतीं। उसके भीतर दूसरी वासना भी प्रबल होकर काम करती है। जिस व्यक्तिका हृदय इतना विद्रोही होसकता है वह घर वालों के और समाज के भय से अनिच्छित विवाह करने को कभी सहमत नहीं हो सकता.। इस प्रकार की प्रत्यक्ष अस्वाभाविकताएँ होते हुए भी उपन्यास ऐसे ढंग से, ऐसी मार्मिकता से लिखा गया है कि उसकी भावपूर्ण शैली के तले ये अस्वाभाविकताएँ सिर नहीं उठा पातीं।

जिस बगला भगत योगी के आश्रम में मणि आश्रय लेती है वह वेरनी वसूलात के स्वामी अनन्तानन्द का उलटा रूप है। गंभीर लाल, चन्दूलाल और जोरा भगत सब अपनी-अपनी भूमिका मे सटीक उतरे हैं। पर कहीं-कही ऐसे-ऐसे स्वयं विरोध भी है जैसे काशी को पहले अनपढ़ बताया गया है फिर थोडे ही पृष्ठो के पीछे वह अपने माता-पिता को अपनें कष्टों का पूरा विवरण देते हुए एक पत्र लिखती है। ऐसी बहुत-सी विरोधात्मक बातें इसमें पाई जातीं हैं। किन्तु जिस प्रकार के वातावरण में सब घटनाएं होती हैं उनमें ये छोटे-छोटे दोष डूब जाते है। यदि कालिदास का श्लोक थोडा-सा परिवर्तित करके कहा जा सके तो इस प्रकार होगा—

क्षुद्रोहि दोषो गुन सन्निपाते निमंगतीन्दोः किरणेष्विवाकः

प्राणशंकर पंड्या की संस्कृत-मिली गुजराती हंसी का अच्छा आधार है। डा० धनेशचन्द्र और मारुती वकील द्वारा आविष्कृत आत्म विज्ञापनके नए उपाय और कष्ट नष्टेश्वर मँदिरमे रात वाला दृश्य ऐसे सुन्दर हैं कि मनुष्य हँसते हँसते लोट-पोट हो जाता है। उपन्यास में सचमुच मुंशी-

जी ने समाज के अन्याय और अत्याचार की कसकर उचित भर्त्सना की है।

: ३ :

स्वप्न द्रष्टा

स्वप्न द्रष्टा में मुंशीजी बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक के भारत की राजनीतिक दशा का चित्रण किया है। जिन दिनों बंग-भंग हुआ था और स्वदेशी आन्दोलन बल पकड़ता था उस समय पहले पहल भारतीय जनता मे राजनीतिक चेतना आई। उस समय मुंशीजी बड़ौदा कालेज मे पढते थे और श्री अरविन्द घोष उनके गुरु थे। उसीका परिणाम यह हुआ कि उन्होने अपनी समस्त तत्कालीन राजनीतिक आकांक्षाओको उपन्यास का रूप दे दिया है। कथा यह है—

उपन्यास का नायक सुदर्शन बचपन से ही महत्वाकांक्षा के स्वप्न देखता है। पुस्तको से और प्रत्यक्ष दृश्यो से उसकी आकांक्षाएँ प्रबल हो जाती हैं। कालेज मे पढते समय श्री अरविन्द घोष से उसकी भेंट हो जाती है। वह अपने कुछ मित्रों को एकत्र करके देश को स्वतन्त्र करने की योजना बनाता है। देश प्रेम मे वह इतना मग्न हो जाता है कि उसके जीवन में नारी के लिए कोई स्थान नहीं रहता। इसीलिए उसने अपने माता-पिता की चुनी हुई सुलोचना की उपेक्षा की और उधर कालेज-कन्या सुलोचना ने भी ऐसे बुद्धुओं को दूर रखना ही उचित समझा जिन्हे न तो ठीक से पहिनने ओढने का गुण हो और न मन में प्रेम की लपटें जलती हो। वह अपने मित्रो के साथ सन् १९०५ की सूरत कांग्रेस देखने के लिए जाता है जहाँ लोकमान्य तिलक और सर फिरोज शाह मेहता के अधीन गरम और नरम दल वाले अपने-अपने तर्क दे रहे थे। रासबिहारी घोष राष्ट्रपति थे। अगले वर्ष २१ जनवरी को मित्रो की सभा होने वाली थी और कार्य बाँटा जाने वाला था किन्तु उस दिन के पहले ही सुदर्शन ने देखा कि सभी मित्र एक-न-एक बहाना करके खिसक गए हैं और वह अकेला रह गया है। प्रो० कापडिया की

बात सच्ची हुई । उसके मित्र सचमुच निरर्थक सिद्ध हुए । उसने अपने इतने दिनों के संचित विचारों को दियासलाई लगा दी और अन्त में वकालत पास करके अनिश्चित जीवन धारण कर लिया । यह उपन्यास वर्णनों की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर है । बड़ौदा कालेज, उस समय के प्रतिष्ठित व्यक्ति, उन दिनों की ऐतिहासिक घटनाएं इन सबके कारण पुस्तक का महत्व और अधिक बढ़ गया है ।

: ४ :

स्नेह संभ्रम

यह कुछ दूसरे ही ढंगकी रचना है जिसमे आदिसे अन्त तक विनोद ही विनोद है । इसकी कथा वही है जो पीड़ाग्रस्त प्रोफेसर की, जिसका विवरण आगे हम सामाजिक नाटकों के विवरण मे देंगे ।

उपसंहार

सामाजिक उपन्यासकार के रूप में मुंशीजी ने सफलता भी पाई और प्रसिद्धि भी । समाज-सुधार की कट्टर कटुता के साथ उन्होने समाज पर प्रहार किया और स्वयं अपनी आंखों से सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में जो कुछ देखा उसका ठीक-ठीक चित्रण भी किया । उन्होने गंभीर और विनोदपूर्ण दोनों शैलियों पर समस्त अधिकार प्राप्त किया है और उनकी लेखनी ने दोनो में अपनी प्रौढ़ता सिद्ध की है ।

सामाजिक नाटक

आर्थर महान् की वीरताओं का और उसके पराक्रमों का उपसंहार करते हुए अंग्रेज़ कवि टेनिसन ने एक पंक्ति लिखी है—

"पुराना क्रम नए क्रम के लिए स्थान छोड़कर बदल जाता है और ईश्वर उन नए क्रमों मे अपनी पूर्णता की अभिव्यक्ति इसलिए करता है कहीं ऐसा न हो कि कोई अच्छी परिपाटी ही बहुत दिनों तक चल कर सारे संसार को श्रीहीन, रूढ़ और नीरस बनाकर नष्ट कर दे।" इसीलिए समय-समय पर बैठे-बैठाए और जमे-जमाए समाज को झकझोर कर परिवर्तन होने को विवश करने वाली शक्तियाँ निरन्तर सिर उठाती रहती है और उस विद्रोह की सफलता या असफलता विद्रोही के व्यक्तित्व, साधन तथा अवसर पर अवलंबित रहती है।

अंग्रेज़ों के आने के पश्चात् भारत में धार्मिक और सामाजिक अनेक विद्रोह हुए। बंगाल में ब्रह्मसमाज उठ खड़ा हुआ। स्वामी दयानन्दजी ने आर्य समाज का झंडा लिया। और इन महापुरुषों की शक्ति से अनुप्राणित होकर अन्य लोग भी सचेष्ट होकर इस जागरण का पोषण करने लगे। किन्तु नवीन सुधारवाद दो दिशाओं मे बलवती धारा बना कर बहने लगा। एक वह था जो भारतीयता का पल्ला पकड़े हुए धर्म और नीति दोनों की गलबाँही दिये हुए समाज का नैतिक परिष्कार करना चाहता था। दूसरी ओर वे थे जो विदेशी तड़क-भड़क के आकर्षण में अपने यहाँ की प्रत्येक वस्तु को त्याज्य, हेय और असुन्दर समझने लगे थे। पहला पथ सर्वमान्य न होते हुए भी अग्राह्य नहीं था। दूसरा पथ न सर्वमान्य ही था न ग्राह्य ही किन्तु आकर्षण का केन्द्र यही था। अत्यन्त शीघ्र उसके दोष स्वयं विस्फुरित होने लगे। जिस समाज

ने—सुधारवादी समाज ने उसकी प्रतिष्ठा की थी वही व्यामोह दूर होने पर उसकी नींव खोदने पर उतारू होगए।

जब समाज इस प्रकार विक्षुब्ध हो रहा था तब समाज का चित्रण करने वाला साहित्य कैसे मौन रह सकता था। सामाजिक वादों ने साहित्यिक नेताओं के हाथ में पडकर अपनी युक्तियों और तर्कों के वाग्जाल से समाज मे आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। रूढ़ समाज अपने पुराने ग्रन्थों मे लिपटा हुआ उन्हें कवच बनाकर साँस ले-लेकर जीने में ही अपना कल्याण समझने लगा। इधर नया विद्रोही समाज लक्ष्य साध-साधकर निरन्तर तीखे बाण चलाने लगा और इस द्वन्द्व ने सामाजिक विप्लव का रूप धारण कर लिया। लोगों के हृदय बदलने लगे। रूढ़ समाज चेतन होकर अपनी नैतिक परिस्थितियां पहचानने लगा और नया जाग्रत समाज धीरे-धीरे अपनी भूल पहचानकर सुपंथ पर आने लगा। जिस चतुष्पथ पर इन दोनों की भेंट हुई वह मंगलकारी पथ न तो शुद्ध रूढ़ रह गया न पाश्चात्य सभ्यता की ओर प्रवृत्त होने वाला—नया विद्रोही।

गुजराती साहित्य मे बीसवीं शताब्दी के पहले पच्चीस वर्षों तक जिस कथा और नाटक साहित्यकी रचना हुई थी वह या तो केवल पुराणों की कथाओं पर आश्रित था या अमरीकी और अंग्रेजी उपन्यासो और कथाओ के साँचे पर ढला हुआ विलास और वासनामय प्रेम कहानियों के रूप मे था जिनमे एक युवक और एक युवती किसी होटल में, कालेज में, रेलगाडी या उपवन में किन्हीं विशेष अवस्थाओं मे मिलते थे और विजातीय होते हुए भी उनका प्रेम इतना सबल हो उठता था कि वे विवाह सूत्र में बँध जाते थे; और कहानीकार लोग उनके इस व्यवसाय को नैतिक विद्रोह कहकर उनका समर्थन करते थे और उन्हें प्रोत्साहन देते थे।

ऐसे अनिश्चित साहित्यक युग मे अपनी मस्तभरी, चुभती, व्यंगपूर्ण और कटाक्षपूर्ण कहानियो और नाट्य-कथाओं को लेकर मुंशीजी

साहित्य मे उतरे। जिन क्षेत्रो को साहित्यकारों ने अस्पृश्य समझकर छोड़ दिया था, जिनकी ओर किसी की दृष्टि भी नही गई थी उन्ही का सहारा लेकर मुंशीजी की कहानियाँ और उनके नाटक सब जाग उठे। इनमें से कुछ ऐसे थे जिनसे पुराने रूढिवादियो का चिढना स्वाभाविक था। ऐसे भी थे जिन्होने गंभीर विचारको के मन में विरक्ति पैदा करदी और कुछ तो ऐसे थे जिनमे प्राय. सर्वमान्य सिद्धान्तों की भी खिल्ली उड़ाई,गई थी।

: १ :

ब्रह्मचर्याश्रम

इस नाटक मे उन्होंने ब्रह्मचर्य के पालन के आदर्श की बडी हँसी उडाई है, इसलिए कि वह अव्यावहारिक है। जिन्होंने रवीन्द्रनाथ टैगोर का चिरकुमार सभा पढा होगा उन्हे संभवतः यह भी भ्रम हो सकता है कि मुंशीजी का ब्रह्मचर्याश्रम चिरकुमार सभा की छाया लेकर लिखा गया है। जिस खीझ के साथ महाकवि टैगोरने चिर-कुमार रहने के आदर्श पर व्यंग किया है ठीक उसी प्रकार मुंशीजी ने भी किया है। यो पढने से नाटक बड़ा सरल है उसमे सजीवता और वास्तविकता है।

कथा इस प्रकार है—जेल मे डा० मधुभाई कुछ ऐसे युवक ढूंढ़ रहे हैं जो देवता बनाए जा सके और इसीलिए वे अपने जेल के साथियो में से पढ़े-लिखे और व्यापारी वर्ग मे से कुछ को सहमत कर लेते हैं। वे निश्चय करते है कि जेल से छूटने पर रेवा नदी के किनारे हम लोग ब्रह्मचर्याश्रम स्थापित करेंगे और उसके लिए हम अपने जीवन उत्सर्ग कर देंगे। डा० मधुभाई समझते हैं कि ब्रह्मचर्य का व्रत लेना, पालन करना और स्त्रियो का अस्तित्व भुला देना कोई कठिन काम नही है। दिन बीतते हैं। जेल से छूटने के पश्चात् ब्रह्मचर्याश्रम खुलता है और सब लोग बड़े नियम से अपना धर्मपालन करते हैं। इतने में आश्रम के रसोई बनाने वाले दाजी को ज्वर हो आता है और वह अपने बदले

अपनी भतीजी पेमिली को भोजन बनाने भेज देता है। ब्रह्मचर्य के व्रत धीरे-धीरे शिथिल हो चलते हैं। कलह होने लगता है। सब लोग आश्रम छोड़कर चले जाते हैं और अन्त में जो थोड़े-बहुत बच रहते हैं उन्हें यह जानकर आश्चर्य होता है कि स्वयं मधुभाई पेमिली के फेर में पड़ गए हैं। आश्रमवासी जब पेमिली को खाना बनाने के लिए बुलाते हैं और पेमिली को जो सहायता देते हैं उसके लिए जो तर्क दिये गए हैं वे बड़े मधुर और विनोदपूर्ण हैं। पेमिली भी अपनी गंवारू बोली मे बहुत ही सुन्दर रूपमें चित्रित की गई है और उसका चरित्र और धैर्य भी आश्रमवासियों से अधिक दृढ चित्रित किया गया है।

: २ :

पीड़ाग्रस्त प्रोफेसर

इस विनोदपूर्ण नाटक में यही दिखलाया गया है कि अध्यापक और शिष्याओं का क्या सम्बन्ध होना चाहिए। कथा इस प्रकार है कि मोहिनी और वसुमती दो कालेज की छात्राएं हैं जो प्रोफेसर प्रीतमलाल के व्यक्तित्व से बड़ी प्रभावित हैं। ये सब लोग तारापुर में त्रिभुवनदास के घर पर भोजन के लिए निमंत्रित किये गए है और यहाँ उनके मित्र डाकू का वेष बनाकर उस भवन पर धावा बोल देते हैं। अपनी बड़ाई मारने वाले कायर जोरावरसिंह की पोल खुल जाती है। वसुमती लज्जित होजाती है विशेषतः यह देखकर कि घर की रक्षा के लिए प्रीतमलाल ने वीरता दिखाई। वह प्रीतमलाल के साथ भाग निकलना चाहती है किन्तु जोरावरसिंह को उसकी गन्ध लग जाती है। वह अपनी पत्नी को समझाता है और वह कहना मानकर अपने पति के साथ बम्बई चली जाती है। थोड़ी देर पश्चात् प्रीतमलाल आते हैं और उन्हे यह जानकर अत्यन्त आश्चर्य और क्षोभ होता है कि वह उनके लिए अन्तिम प्रणाम कह गई है। विद्यार्थियो का अपने अध्यापकों के प्रति क्या भाव होता है इसका बहुत सुन्दर चित्रण मुंशीजी ने किया है,

किन्तु जहाँ तक नाटकीयता की बात है यह नाटक अत्यन्त शिथिल, नाट्य-चित्रण की कला से रहित है। घटनाओं और उक्तियों की जो तर्क-पूर्ण संगति होनी चाहिए और स्वाभाविक विकास होना चाहिए इसका इसमें नितान्त अभाव है किन्तु मनोविनोद की इसमें पर्याप्त सामग्री है और बम्बई के अंग्रेजी विद्यालयों का इसमें गहरा भण्डाफोड़ है। और यदि सचमुच इसी प्रकार का वातावरण हमारे विद्यार्थियो में है तो अवश्य उसका शीघ्र सुधार होना चाहिए और उनके बदले ऐसे विद्यालय बना देना चाहिए जिनमें छात्राओ और छात्रों की पढ़ाई की व्यवस्था अलग हो और उनके अध्यापक भी अलग-अलग हों।

: ३ :

काकानी शशी

इस नाटक की कथा कुछ गम्भीर है। इसमे स्त्रियों के पद और अधिकार की चर्चा की गई है और उनके उद्धार की बात छेड़ी गई है। बीच-बीच मे व्यंग और चुटकियो की भी कमी नही है। शशीकला एक अंग्रेज़ी विद्यालय की युवती स्नातिका है और अपने एक अभिभावक के साथ रहती है जिन्हे वह चाचा समझती है। बड़ी होने पर उसे अपनी सम्पत्ति मिलने वाली है और वह अपने चाचा मनहरलाल से अलग होकर रहने वाली है। पीछे एक अत्यन्त मार्मिक दृश्य में उसे अपना और मनहरलाल का परिचय मिल जाता है और उसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि वे क्यों मिले और उसने क्यों अपनी वास्तविकता प्रकट नही की। वह मनहरलाल के प्रेम मे पड़ जाती है और समझती है कि स्त्रियां चाहे जितना चिल्लाएं वे अकेली कभी नहीं रह सकतीं और जिस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम वालो के सब निश्चय मिट्टी में मिल गए उसी प्रकार उसके भी विचार बदल जाते हैं।

नाट्यकला की दृष्टि से मुंशीजी का यह नाटक भाषा, चरित्र-चित्रण, कथावस्तु और नाटकीय व्यापार सभी तत्वों से सम्पन्न है। इसमें व्यंग और चुटकियां भी अच्छी हैं और उचित स्थानो पर ही उनका प्रयोग

हुआ है। वर्तमान नारी के रूप में शशिकला का चित्रण सुन्दर हुआ है। उसके वर्तमान दृष्टिकोण तथा पाश्चात्य विचारों के पीछे स्त्री का हृदय भी बोल रहा है। वर्तमान नारी के समान वह चतुर भी है, चंचल भी है और प्रत्युत्पन्नमति भी है। वह जानती है कि उसे क्या चाहिए और वह कैसे प्राप्त किया जा सकता है। मनहरलाल तथा अन्य चरित्र भी कुछ कम कौशल से चित्रित नहीं किये गए।

: ४ :

बावा शेठनुं स्वातंत्र्य

मुंशीजी की सामाजिक नाटकत्रयी मे सामाजिक बुराइयों का विश्लेषण है। इनमे यह पहला नाटक है जिसमे पत्नी-भक्त बावासेठ अपनी पत्नी रेवा के कठोर शासन से अपनी मुक्ति चाहते हैं। वे चर्चगेट की रेती मे जहाँ अब मेरीन ड्राइव की सड़क बनी है, एक युवती से मिलते हैं और नवप्राप्त स्वातंत्र्य की झोंक में अपने पद और अवस्था की मर्यादा के विरुद्ध उससे हँसी-ठट्ठा करते हैं। पीछे उन्हें पता चलता है कि उस युवती का नाम राधा है और वह उनके पुत्र की प्रियतमा तथा दीवालिये दामोदर देसाई की पुत्री है। वह उससे विवाह करने की बात भी सोचते हैं और अपनी निरंकुश पत्नी रेवा को दूसरा विवाह करने की धमकी भी देते हैं। इस प्रकार वह अपनी पत्नी को वश मे कर लेते है और राधा से बावा सेठ के पुत्र मंगल का विवाह हो जाता है। इस नाटक मे और इस नाटक त्रयी के अन्य दो नाटको मे नाटककार का कच्चापन स्पष्ट प्रकट होता है। इस नाटक के और बेखराबजण के कुछ दृश्य तो ऐसे है जो रंगमंच पर दिखलाए ही नहीं जासकते और संवादमें भी वह रस, वह चमक और वह जोड़-तोड़ नहीं है जो उनके पीछे के नाटकों मे है।

: ५ :

आज्ञांकित

यह अनेक सामाजिक बुराइयो और मिथ्या कर्तव्य-बुद्धिके विरुद्ध कठोर

व्यंग नाटक है । जिस जीवन मे स्त्रियाँ दुर्बल, वृद्ध और रुग्ण मनुष्यों के हाथ पैसा लेकर बेच दी जाती हों, और उनकी इच्छाओ का कोई मूल्य न हो, जहाँ अशक्त और वृद्ध पति पाँच-पाँच बार विवाह करने के लिए उत्सुक हो, वहाँ सच्चरित्रता की ढूँढने पर भी शोध न मिली; जहाँ एक भतीजा मिथ्या कर्तव्य-बुद्धि मे पडकर अपनी चुनी हुई भावी जीवन-संगिनी को अपनी चाची बना सकता हो, जहाँ पति बलपूर्वक अपनी पत्नी से श्रद्धा और पूजा चाहता हो और जहाँ अपने मरते हुए चचा को प्रसन्न करने के लिए एक भतीजा उसे अवान्छनीय स्थानो से स्त्रियां लाकर देता हो वहां प्रत्येक मनुष्य के हृदय मे ऐसी ठेस लगती है जिसे वह चुपचाप सहन नहीं कर सकता। धीरजलाल इसी प्रकार का मिथ्या कर्तव्य-बुद्धि वाला भतीजा अपनी सगाई की हुई सविता को तथाकथित कर्तव्य के नाम पर बलिदान करके उसकी बहिन कमला से विवाह कर लेता है। सविता का विवाह पत्नीवाले वृद्ध हरकिशन से रुपया लेकर कर दिया जाता है और थोडे दिनो के पश्चात् हरकिशन उसे बाल-विधवा छोडकर समाप्त हो जाता है। सविता और कमला दोनो विद्रोह करने का प्रयास करती है। इसके अतिरिक्त इस नाटक मे उन लोगो की भी कसकर आलोचना की गई है जो अविवेकपूर्ण और व्यर्थ दान देते है। यह नाटक वर्तमान करुणाजनक सामाजिक परिस्थिति की अत्यन्त विषादपूर्ण और कटु आलोचना है। ऐसे नाटको की अवश्यकता भी है।

: ६ :

बे खराब जण

तीसरा नाटक सुखान्त भी है और आमोदजनक भी। यह नाटक ऐसे मनुष्यो का चित्रण है जो वर्तमान पीढ़ी के भावी प्रतिनिधि हैं। रम्भा वह लडकी है जो मस्त रहती है और पुरानी हिन्दू नारियो के समान भाग्य के भरोसे बैठने वाली और जो भाग्य से मिली हुई वस्तु पर संतुष्ट रहने वाली नही है। उसके सम्मुख दो प्रस्ताव हैं—एक ओर

रामदास डगली वाला है जो अभी इंगलैंड से लौटा है, धनी है और समाज में उसका सम्मान भी कुछ कम नहीं है, इसके विपरीत दूसरी ओर एक नया डाक्टर मोहन है—चलता पुर्जा मस्त अनुत्तरदायी, और ललनाप्रिय। रंभा इसीकी ओर आकृष्ट होती है। रम्भा को उसके पिता विवाह मण्डप में ले जा रहे हैं किन्तु बीच में ही मोटर गाडी टूट जाती हैं। इसी बीच डाक्टर मोहन मिल जाते हैं और वह उनके साथ चल देती है। रम्भा के पिता पुरुषोत्तम दास पोपड़ा को यह पता ही नही कि लडकी निकल भागी है। वे विवाह मण्डप में बहुत देर से पहुंचते हैं, और वहाँ उन्हें ज्ञात होता है कि कन्या अभी आई ही नही। इसी बीच रम्भा पत्रों में सूचना दे देती है कि मैं डाक्टर मोहन से विवाह करने जा रही हूँ। सब समाचार पत्रों के प्रथम पृष्ठ पर इस समाचार को देखकर सारे नगर में सनसनी फैल जाती है। रामदास को भी यह समाचार मिल जाता है और रम्भा भी उससे कह देती है कि अब मुझसे विवाह करने की बात नहीं चलानी चाहिए क्योंकि मेरा विवाह सम्बन्ध तो हो चुका है और स्त्री के लिए दो-दो विवाह करना न्याय के विरुद्ध है। बेचारा रामदास अपना-सा मुंह लेकर लौट जाता है और रम्भा के मन की बात भी पूरी हो जाती है। इसमे जिस प्रकार की नाटकीय उलझनें दिखाई गई हैं वे इस युग की प्रगति देखकर भी संभव नहीं प्रतीत हार्ती और रम्भा तथा मोहन का चरित्र भी सामाजिक स्वस्थता के लिए और शुद्धता के लिए उपयुक्त नहीं है। जहाँ तक रोचकता की बात है वह आदि से अन्त तक निरन्तर व्याप्त है और उन नाटको को पढ़ने से यही बात सबमे अधिक स्पष्ट है कि मुंशीजी के नाटकों में व्यंग की सबसे अधिक प्रधानता है। उनके अपने जीवन में जिस-जिस प्रकार की बाधाएँ पड़ी हैं और उनकी स्वतन्त्रता में जिस प्रकार समाज ने अडचने डाली हैं उनकी खिल्ली उडाने में, उनकी टीका टिप्पणी करने मे और उनकी कटु आलोचना करने मे मुंशीजी संकोच नही करते और विचित्र बात यह है कि उनका पूर्णतः समर्थन न करते

हुए भी समाज उन चुटकियों मे रस लेता है, आनन्द लेता है। भाषा और संवाद में गति है, घरेलूपन है और स्वाभाविकता है। किन्तु घटनाओं मे अतिरंजना, असंभावना और अव्यावहारिकता भी भरी हुई है। इन नाटको की महिलाएँ अधिक शक्तिशालिनी, समझदार, साहसी और सजग हैं। वे किसी से दबना नहीं जानती और जो उनके मार्ग मे आवे उनसे लडना भी जानती हैं। इसीलिए इन नाटको में चरित्र और घटना की वह उत्कृष्टता और भव्यता नही है जो उनके पौराणिक नाटकों में है, और हो भी नहीं सकती थी। यदि इन नाटको मे से कुछ असंभावना पूर्ण दृश्यों को निकाल दिया जाता तो संभवतः इनका स्तर और ऊँचा होता। किन्तु सबसे बडी बात यह है कि मुंशीजीने प्रिय असत्य कहने की अपेक्षा अप्रिय सत्य कहा है और इस अप्रिय सत्य के विश्लेषण में उन्हे जिस प्रकार की सामग्री सहायक जान पडी उसे कटुतम, अप्रियतम बनाकर उसका भरपूर प्रयोग करने में उन्होंने कोई कसर नही छोडी।

कहानियां

कहानी के क्षेत्र में मुंशीजी ने अपनी वीस छोटी कहानियों का संग्रह 'मारी कमला अने बीजी वातो'(१६२४) [मेरी कमला और दूसरी कथाएँ] के नाम से गुजराती साहित्य को दिया है जिसका नवीन संस्करण 'नवलिकाओ' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इन कहानियों में शैली और विषय की दृष्टि से बडे विस्तृत क्षेत्र को नाप डाला गया है। यद्यपि इनमे कथाओ, भावों और शैलियों की अनेकता है किन्तु समाज और घर की बुराइयो और त्रुटियो को स्पष्ट रूप से चित्रित करना ही उनका ध्येय है।

इस संग्रह में 'शामलशाहनो विवाह' 'गोमती दादा नुं गौरव' 'शुकुंतला अने दुर्वासा'और 'खानगी कारभारी'अत्यन्त सुन्दर कहानियाँ हैं। 'शामलशाहनो विवाह' अनमेल विवाह पर तीखा व्यंग है। जिस में बावन वर्ष का एक बूढा पाँच वर्ष की लड़की से अपना पाँचवां ब्याह करता है। 'गोमती दादा नुं गौरव' में दिखाया गया है कि कुछ परिवार केवल अपनी पुरानी बड़ाई पर झूठी शान बघारा करते हैं। इस कहानी में वही भाव हैं जो रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'नायन जोर के बाबू लोग' मे है। 'शकुन्तला और दुर्वासा' बडी प्रसिद्ध कथा है किन्तु इसमें उसीकी छाया के रूप में यह दिखलाया गया है कि आजकल की पढी-लिखी स्त्रियां अपने घर के बड़ो से कैसा दुंव्यवहार करती हैं, जिनका उन्हें मान करना चाहिए उनकी कितनी अवमानना करती हैं और किस प्रकार अपने बच्चों की ओर से असावधान रहती हैं। अन्त मे कहानी करुण हो जाती है और उससे आजकल की लडकियो को नीति की शिक्षा भी मिल जाती है। 'खानगी कार भारी' भी एक व्यंगात्मक और विनोदपूर्ण कहानी है जिसमें आजकल के उन लोगो पर छींटे कसे

गए है जो अपना सब काम यहाँ तक कि अपनी पत्नी को पत्र लिखने का काम भी अपने प्राइवेट सेक्रेटरी पर छोड देते हैं और अपने व्यापार मे व्यस्त होकर अपने घर-बार की सुधि नहीं लेते।

'एक पत्र' एक सोलह वर्षीय कन्या की कहानी है जिसमे बिना कुछ छिपाए अपने हृदय की सारी व्यथा कह दी है।

इस पत्र में वह अपने पति पर चरित्र दोष का आरोप करती है और बताती है कि मैंने किस प्रकार न्याय, सहिष्णुता यहाँ तक कि स्नेह और सुख की छाया से भी रहित जीवन बिताया है। इस पत्र मे आजकल की अधिकांश विवाहिता कन्याओं की दुर्दशा का बडा मार्मिक चित्रण है।

"नवी आँखों जूना तमाशा" शुद्ध विनोद है जिसमे प्राचीन युग की भावनाओं, रूढ़ियों, आचार-विचारो, यहाँ तक कि पौराणिक महापुरुषों तक की खिल्ली उडाई गई है। हाँ, पाठक को उसे पढ़ते समय यही सोचते रहना चाहिए कि यह सब केवल स्वप्न है, और उसे सत्य समझने की भूल नही करनी चाहिए। 'स्मरण देश की सुन्दरी' में यही दिखलाया गया है कि किसी दुष्कृत या अकृत कार्य की स्मृति से मनुष्य की मानसिक दशा बिगडकर पागलपन तक पहुँच सकती है। 'कण्डु आख्यान' और 'स्त्री संशोधक मण्डल नु वार्षिक समारम्भ' ये हलके परिवृत्त (पैरोडी) कथानक हैं, और मनोविनोद के अच्छे साधन हैं।

इस प्रकार कहानी के क्षेत्र में भी मुंशीजी ने अपनी प्रतिभा के चमत्कार से सजीव साहित्य की सृष्टि की है और निर्भीक होकर वर्तमान सामाजिक वातावरण की घटनाओं से परिणाम निकाले हैं जिन्हे पढ़कर मानव-समाज अपना बहुत कुछ सुधार कर सकता है और बहुत कुछ आत्मकल्याण कर सकता है। अन्य लेखकों से मुंशीजी मे अन्तर यही है कि जहाँ दूसरे लेखक उपदेष्टा होकर, तार्किक होकर लोक में अपनी स्वेच्छित नैतिक धारणाएं प्रतिष्ठित करना चाहते हैं वहाँ मुंशीजी चुटकी लेकर, छींटे कसकर और खिल्ली उडाकर उसे उसके दोष दिखाने का प्रयत्न करते है। इसीलिए रूढिवादी मण्डल मुंशीजी के नए आदर्शों से

सहमत नहीं है । इन्होंने अपनी कहानियों में गंभीर और विनोद-पूर्ण दोनों शैलियों का ऐसा सुन्दर गंगाजमनी मेल किया है कि वह 'नावक के तीर' के समान हृदय में पैठ जाते हैं और पाठक रस लेने के साथ-साथ आत्मसंस्कार भी करता चलता है ।

आत्म-कथाकार

भारत मे अधिकाश कृतियो के लेखकों के नाम तक का पता नही है। प्राचीन काल में समष्टि के सामने व्यक्ति की कोई महत्ता नही थी। किन्तु आज के युग में व्यक्ति की प्रधानता है। डायरी, पत्र, आत्मकथा सब अहं की भावना से प्रेरित होकर लिखे जाते हैं। लेखक जब यह समझता है, जब उसको यह दृढ विश्वास होता है कि मेरे जीवन में कुछ ऐसी बाते हैं कि जिनको यदि मै प्रकट करूँ तो उनसे लोगों का मनोरञ्जन होगा, उनका उपकार होगा, उनके ज्ञान मे वृद्धि होगी, अर्थात् जब वह अपनी महत्ता का अनुभव करता है तब ही अधिकतर उच्चकोटि के व्यक्ति आत्म-चरित लिखते है। बड़े आदमियो की छोटी-छोटी बाते भी महत्व रखती हैं। लोग उनको बडे चाव से पढ़ते है।

अगर सच पूछा जाय तो एक लेखक आत्म-कथा के सिवा कुछ लिखता ही नहीं। आप उसके उपन्यास, निबन्ध, उसकी कविता कहानी कुछ भी पढ जाइए और यदि आपको उसके आन्तरिक जीवन का पूर्ण-ज्ञान है तो आप देखेगे कि अधिकांशतः उसने अपने अनुभवों और अनुभूतियों को ही घटा-बढाकर चित्रित किया है। एक लेखक की आत्म-कथा जाने बिना उसकी रचनाओ की तह तक पहुँचना असम्भव ही है।

आइसाडोरा डकन एक नर्तकी थी और गांधीजी एक महात्मा, किन्तु दोनों के आत्मचरित समान भाव से पढे जाते है। उनकी सफलता की कुन्जी क्या है? यही कि उन्होने अपने पाठको से अपना जीवन के किसी भी पहलू को छिपाया नही। उनकी जीवनियाँ मानवीय स्पन्दन से ओत-प्रोत है। हिटलर और नेहरू की जीवनियाँ राजनीतिक सिद्धांतों को भण्डार होने पर भी चाव से पढी जाती है क्योकि लेखकों ने

उनको व्यक्तिगत संस्पर्शसे वञ्चित नहीं किया। स्टीफन ज्वेग ने अपनी आत्म-कथा दि वर्ल्ड ऑफ यस्टरडे (कल का संसार) में भाषा को भली प्रकार संवारा है तथा व्यक्ति की जीवनी होने की अपेक्षा वह तत्कालीन समाज का चित्रण है, किन्तु लेखकने उसमें समष्टि और व्यक्ति का ऐसा एकीकरण कर दिया है कि हमें पुस्तक के परायेपन का भान ही नहीं होने पाता। मुंशीजी की आत्म-कथा का भी गुजरात की आत्म-कथाओंमें बड़ा सम्मानित स्थान है और उसने गुजराती साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान भी बना लिया है यद्यपि थोड़े-से आक्षेप भी मुंशीजी पर किये गए हैं कि उन्होंने अपनी आत्म-कथा में अपने जीवन के शुक्ल पक्ष को ही चित्रित किया है इसलिए वह एकाङ्गी बन गई है। पर यह आक्षेप ठीक नहीं। लेखक अपनी भावना और कल्पना के बल पर पाठक को आकाश का विहार कराता है, यह बात सत्य है पर उसने में कठोर मार्गमें कभी आँखें बन्द नहीं कीं। वह उनकी वास्तविकता के प्रतिसदैव सजग रहा है।

मुंशीजी की सर्वप्रथम आत्म कथा शिशु अने सखी है जो सन् १६३२ में प्रकाशित हुई थी। इसको सच्चे अर्थ में आत्म-कथा नहीं कहा जा सकता। इसको लेखक ने एक चित्रात्मक कथा कहा है और वास्तव मे यह एक महान् गद्य-काव्य-सा लगता है। मेरे एक मित्र ने बतलाया कि इसको यदि कविता-पंक्तियों में लिख दिया जाय तो वह एक कविता ही हो जायगी। लेखक का कहना है कि यह पुस्तक अपने आप लिखी गई। जिस प्रकार पुराणकर्ता अनुष्टुप बोलते हैं उस प्रकार मैं बोलता गया और लिखता गया। लेखक को इसे लिखने में कोई प्रयास नहीं करना पड़ा। उसके हृदय से स्रोत फूट पड़ा और वह इस चित्रात्मक कथा के रूप मे बह पड़ा। यह सचमुच एक काव्य है। इसके प्रारम्भ में हम मुंशीजी के दो रूप देखते हैं—पूर्व मुंशी और उत्तर मुंशी—

"एक शरीर और दो व्यक्ति, एक देह और दो दृष्टि, एक मनुष्य और

दो संसार हो ऐसे इस एक शिशु के दो शिशु संसार में विचरते थे।

"एक स्वस्थ और समझदार, दीर्घदर्शी दूसरा दीन, गभीर और प्रेम मज्ञान, प्रणय पागल तथा योग का जिज्ञासु, आदर्श सेवी सगीत के स्वरों की लहरों में प्रियतमा के स्मरणागुलीय से झनझनाती वीणा के समान।"

बहुत से आलोचक मुंशीजीका व्यक्तित्व समझनेमें भूल करते हैं तथा कानून के उच्च आसन पर वैभव के बीच उनको बैठा देखकर उनकी साहित्यिक सृजन शक्ति मे अविश्वास करने लगते है। पर उन्हे यह समझना चाहिए कि बाह्य वैभव और सत्ता मुंशीजी का वास्तविक जीवन नहीं। इसके अतिरिक्त मुंशीजीका एक सूक्ष्म, दुर्बल, आन्तरिक जीवन भो है जिसकी प्रेरणा से आज वे उच्च कलाकारों की कोटि में जा बैठे हैं। 'शिशु अने सखी' के सातवे सर्ग मे उनके यूरोप प्रवास का वर्णन है। पाठक इसके प्रवास वर्णन और 'मारी बिन जवाबदार कहाणी' के प्रवास वर्णन के बीच अन्तर देखकर चकित हो जाता है। इसमे वेस्यूवियस की आग, सागर का उत्ताल नर्तन और स्रोत का प्रवाह-युक्त संगीत है।

समाज के अन्याय, पाखण्ड और बन्धन से मुंशीजी का हृदय क्षुब्ध हो उठा। उनको संसार के किसी कोने मे शान्ति नहीं मिल रही थी। सामाजिक रूढियो के विरुद्ध उनका आत्मा विद्रोह कर उठा था। जहाँ आत्मा का मिलन नहीं, जहाँ दो हृदय वीणाओं के तार-से एक दूसरे से झकृत न हों वहाँ वे विवाह का कोई महत्व नहीं देखते।

"प्रेम के बिना विवाह तो सन्तान की प्रतिष्ठा स्वीकार कराने वाली समाज की व्यवस्था है उसमे प्रेम का वर्णन करना ऐसा छल है जिसको ढकने के लिए सासारिक लोगो मे आत्म-प्रवचना होती है तथा लोग प्रणय के नाम पर अपनी पशुता को तृप्त करते हैं।"

लोग पत्नी किसलिए चाहते हैं?

"कुछ लोग कन्या को घर का शोभा तथा कोई प्रतिष्ठा के लिए

पत्नी रूप में स्वीकार करते हैं। कुछ लोग 'पु' नाम के नरक से पितरों को बचाने के लिए तथा पत्नी को साथ लेकर गुडिया बनाकर घूमने के लिए विवाह करते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो पत्नी को नौकर तथा बीमारी में सेवा के लिए उपयुक्त समझते हैं। मां-बाप को संतोष देने तथा सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए भी प्रणय करने वालों का एक वर्ग है। कुछ लोग मोह और क्षणिक वासना-तृप्ति को ही प्रणय मानते हैं।"

इन सबको मुंशीजी प्रणय को कलंकित करने वाला कहते हैं। मुंशीजी प्रणयको केवल आध्यात्मिक सम्बन्ध नहीं मानते। निर्गुण ब्रह्म की तरह उसका अस्तित्व ही संशय में पड़ जायगा। प्रणय का आधार शरीर है। यहाँ मुंशीजी मोह के निकट आ जाते हैं।

"देह के आकर्षण के बिना प्रेम खरगोश के सींग की तरह है जो केवल कल्पना मे है। जिसमे शरीर सौन्दर्य नहीं उसकी आत्मा का सौन्दर्य किस प्रकार अच्छा लगेगा? परन्तु जो प्रेम चमडी की चमक से प्रारंभ होता है उसका तो अन्त मे पशुओ के लिए भी कोई महत्व नहीं रहता।"

न्यायालयो का अन्याय देखकर मुंशी की आत्मा काँप उठी।

"यहां दिन-रात धन के समुद्र का मन्थन होता रहता है। बहुत से लोगो का धन-भंडार यहां क्रमशः क्षीण होता रहता है। यहां धनाढ्य का वेश धारण करने वाले अन्त मे भिखारियो की फटी चादर ओढते हैं। मृतों की जायदाद यहां बिकती है और उनसे वकीलो के महल बनते हैं, और धनाढ्य की संतान गली-गली भीख मांगती है।"

हमारे विश्व-विद्यालयों मे क्या चल रहा है उसके भी दर्शन कीजिए—

"क्या विदेशी प्रणीत भी संस्कार हो सकते हैं? पराधीनो मे आत्मा कहा होती है? लोभी तथा विदेशी संस्कारोपर मुग्ध होने वाले अध्यापकों की जहां जमात हो वहा आत्मत्याग और आदर्श जैसी कोई वस्तु हो सकती है? यह तो हैं विदेशी संस्कारो का कीर्ति मंदिर और आत्म-

संस्कार की विच्छेद भूमि ! दूसरो का बनाया हुआ आश्चर्य का पिंजरा ।"

राजनीतिक क्षेत्रों मे कैसी धाँधली चल रही है उसको देखकर लेखक का हृदय आक्रोश से भर गया ।

"निर्बल को डराने, सबल को ललचाने, स्वच्छंदाचार को लोकमत कहकर बताने, स्वतंत्रता के बहाने स्वाधीनता का नाश करने के लिए राजमदान्धो का यह सभा-स्थल है ।"

"मूर्ख ! राजनीति तो अपने-अपने स्वार्थी मतो का माणिक चौक है जहा एक अपने मतों को बेच रहा है दूसरा अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहा है । यहा से जगत् का नाश करने वाला राक्षस का शासन निकलता है । यहा एक ही भ्रम की रचना होती है कि पर-शासन ही सच्चा आत्म-शासन है ।"

मु शीजी की परम सिद्धि उनके दृढ़ सकल्प मे छिपी हुई है ।

"ससार में सब असत है । सत तो केवल एक है—वह है मेरे अविभक्त आत्मा की परम सिद्धि ।"

"भले ही ब्रह्माण्ड भंग हो जाय, भले ही प्राण जायं या प्रतिष्ठा भले ही अविश्वसनीय बन जाय और कभी मुझे धोखा दे किन्तु हे सखी ! तुम और मैं एक हैं, एक ही रहेंगे ।"

'गुजरातनी अस्मिता' की प्रस्तावना मे लिखा है—

"इस प्रेम की भावना ने इनके हृदय का किस प्रकार मन्थन किया है, इसकी प्रतीति इनके 'शिशु और सखा' से स्पष्ट हो रही है । 'कलापी की हृदय त्रिपुटी' के कुछ अंशो का स्मरण कराने वाले इनके ग्रंथ में शिशु की बेचैनी और उसके सूक्ष्म फिर भी संपूर्ण हृदय को भर देने वाले प्रणय भाव का जो मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है उसके पीछे-पीछे स्वानुभव की प्रेरणा न हो ऐसा कैसे कहा जा सकता है ।"

मुंशीजी इतिहास के विशेषज्ञ हैं । उनका यह रूप हमें उनके आत्म चरित 'अडधे रस्ते' मे भी दृष्टिगत होता है तथा कही-कही

उनकी आत्म-कथा इतिहास जैसी रूखी भी हो उठती है। नमूने के तौर पर देखिए—

"दुष्ट राघोबा सूरत भाग आया और १७७८ की छठी मार्च को साल्सेट और वसई सूरत की कंपनी को देकर सहायता ली। यह फिर खंभात गया और कर्नल कीटिंग के पड़ाव मे उससे मिल गया। किन्तु उसका कुछ नहीं बना। पूना के सेनापति हरिपंत फड़के ने अंग्रेजो को हराया। इस युद्ध में भड़ौच की भूमि युद्ध-भूमि बन गई।"

आगे चलकर भी मुंशीजी इतिहास की पगडंडियों मे उलझ जाते हैं तथा उनको अपने वंश का इतिहास शोध निकालने मे बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। उन्होंने तत्कालीन गड़े पार्लियामेण्टरी रिकार्डों तक को उसमें खोद निकाला है।

'टेकराना मुनशीओ' वाला प्रथम खण्ड कुछ अधिक लम्बा हो गया है तथा आत्म-कथा के लिए अप्रासंगिक सा जान पड़ता है।

लेकिन इस दीर्घ ऐतिहासिक वर्णन मे भी मनोरञ्जक और हास्योत्पादक प्रसङ्ग आते हैं।

"नगर घेरे में आ गया तब भी लल्लू भाई मजूमदार बातें बघारते रहे। लोगो ने समाचार दिया कि शत्रु ने नगर पर चढ़ाई कर दी है तब भी उन्होंने बाते करना नहीं छोड़ा। फिर बातें बीच मे ही रह गईं। भड़ौंच शत्रु के हाथों मे चला गया, यह समाचार हवेली में उसके पकड़े जाने पर उसे मिला।"

ऊपर का वर्णन हमको प्रेमचन्द की कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' का स्मरण दिलाता है। यह खण्ड हमारे नेत्रोंके सामने तत्कालीन समाज का चित्र उपस्थित करता है जब ब्राह्मणो में जातीय, कौटुम्बिक आदि विरोध कैसे भीषण रूपमें अवस्थित थे।

मुंशीजी की शैली सामान्यतः सरल सीधे वाक्यों मे आगे बढ़ती जाती है—

'इस समय आठ वर्ष का बालक मुंशी गिल्ली-डंडा खेल रहा था और पतंग उड़ा रहा था। कभी मार खाकर रोता और कभी किसी को मार कर छिप जाता। इसके दादा लगान वसूल करते थे और नाना जुगलदास मराठा और फारसी पढ़ते थे। उनकी इसको परवाह न थी।"

जहां भावावेश होता है वहां वाक्य छोटा और उसके क्रम मे भी अन्तर आ जाता है—

"राज्य आये या जाय परन्तु विशम्भरदास के वंशज जैसे थे वैसे ही भरूची महत्ता में मग्न थे। अपने कारोबार के रास्ते पर बहे जा रहे थे—सदियो से जैसे थे वैसे ही।"

मुंशीजी की दूसरी विशेषता औपन्यासिक चित्रण है। मुंशी जब किसी वस्तु का वर्णन करने लगते है तब रुकते नही, किन्तु अनवरत गति से बढ़ते जाते है—

"इस भागीरथ कार्य के लिए कितने ही दिनों तक धमा-चौकड़ी चलती रहती। पगडी बंध गई क्या, कैसी लगती है? कलम तैयार हो गई, ठीक चलती है? कितनी बनाई, दो, तीन या चार? बैलों के सीगो पर चाँदी के वर्क लग गए? शिकार की नई छतरी बन गई? पहियो मे तेल दे दिया?"

"वह दिन आता, सारे वर्ष मे सोने का दिन—काका उठते, नहाते, संध्या करते, पीछे चुनकर नागपुरी धोती पहनते, आँखो को चुभने वाली नई पगडी बाँधते, नोकदार जूता पहनते, तीन-चार कलमें ले शुभ-शकुन देखकर घर से बाहर निकलते, शिकरम मे बैठ जाते और हिलते-डुलते कचहरी पहुँच जाते। सारा गाँव देखता रहता।"

मुंशीजी की शैली पर अंग्रेजी रचना शैली का बहुत प्रभाव पडा है। उनके शब्दों का नमूना देखिए—

अजवालु पडछे=Throws a light रात पडे छे=Night falls रास्ता पर पड़ता वारीमा=in the window overlooking the street. जीजीमा पहेला=Jijima, the first संसार डाह्याओ=

worldlywise man आदि। हिन्दी में भी आजकल के लेखकों मे, विशेषकर यशपाल में,अंग्रेजी वाक्य रचना का भद्दा अनुकरण दिखलाई पडता है जिसके कारण वाक्यका आशय दुरूह हो जाता है। अंग्रेजी वर्णन शैली का प्रवेश अवांछनीय नही है किन्तु उसे अपना हो जाना चाहिए, उसे भली प्रकार पचा लेना चाहिए।

अतीत को वर्तमान मे चित्रित करने की कला से भी मुंशीजी भली भांति परिचित हैं। जब तक लेखक स्वयं अतीत को अपनी आँखों के सामने न देखने लग जाय तब तक वह दूसरे के सामने अतीत का चित्र उपस्थित नही कर सकता।

"यह उठते हैं और खिड़कीमें खडे होकर भृगु भांस्करेश्वरकी उडती ध्वजा का दर्शन करते है। फिर यह खिडकी में बैठ जाते हैं। तब इनकी मर्यादाका उल्लंघन करके कोई भी टेकरी पर नहीं आ सकता था। उनसे मिलने वाले बरामदे में बैठकर आदर के साथ उन्हे देखते रहते।

"घर के बीच के चौक में संगमर्मर की चौकी पर बैठकर ये स्नान करते। फिर सफेद पीताम्बर पहन कर पहले महादेवजी के मंदिर जाते, संध्या करते और कभी रुद्र और चंडी का पाठ करते।"

कभी-कभी मुंशीजी बालजक के समान साधारण-सी छोटी-छोटी बातों को बडे गौरवपूर्ण शब्दों में वर्णन करते हैं। जिस प्रकार एक बौने को उच्च राज्य सिंहासन पर बिठा दिया जाय उस समय वह भले ही गर्व अनुभव करे किन्तु दर्शक तो उच्चासन के भ्रम में उसकी तुच्छता को हृदयङ्गम किये बिना न रहेंगे तथा अपनी हँसी को भी न रोक सकेंगे। वही दशा यहाँ पाठकों की होती है और लेखक भी घटना को तूल देकर उसको महत्व देने के बदले उसकी तुच्छता ही प्रकट करता है।
घरेलू झगडा महाभारत का रूप धारण करता है—

"युद्ध के डंके-निशाम बजने लगे। घर-घर शंखनाद फूंके जा रहे थे। बादलों मे गडगडाहट से महान् कोलाहल मचने लगा। टेकरी पर

यादव-स्थली का निर्माण प्रारम्भ हुआ। पहले योद्धाओं की छावनी स्थापित हुई—एक छावनी हमारी और बगल में अधुभाई काका की।"

मुंशीजी में विनोद की भी कमी नहीं है। जो स्वयं हँसना नहीं जानता वह दूसरों को क्या हँसायगा। मुंशीजी अपने जीवन में भी हँसोड प्रकृति के हैं और साहित्यमे भी। प्रहसनो की अधिक संख्या इसी का परिणाम है।

"परन्तु धीरज काका को दो रुपये की कीमत का मगन की मृत्यु का आघात लगा हुआ था इसलिए उन्होंने हृदय-भेदी आवाज़ के साथ आँसू बहाना और सुबकना प्रारंभ किया—'ओ मेरे मगनिया रे!' इस तरह उन्होंने परम्परा को जारी रखा।

"फिर बापू ने कहा और उसके बाद छबीले ने उसे दोहराया। और अन्त में धीरज काका ने गगन-भेदी 'ओ मेरे मगन रे' इस स्वर के साथ रोते हुए राग में धीरे से कह दिया कि रोने के पैसे लिये है, चुप रहने के नहीं। इसके बाद फिर रोना जारी रखते हुए कहा—'ओ मेरे मगन रे।'

"अन्तमे विवश होकर छबीले ने सौदा किया और चुपके से दो रुपये कपडे के भीतर रखकर धीरज काका को दिये—यह है चुप रहने की फीस।"

चीफ जस्टिस और फरसराम मुन्शी के बीच जब धीरजलाल भाई दुभाषिया बने थे उस समयके उनके वार्तालाप को पढकर कौन हँसे बिना रह सकता है! अंग्रेजो का गुजराती अनुवाद इससे बढकर क्या हो सकता है!

कुछ उपमाओ के उदाहरण देखिए—

"घण्टों तक,स्त्री और पुरुष घोडा और गाडी एक-दूसरे के सामने खड़े रहे जैसे समान बल वाले भैंसे एक-दूसरे से सींग उलझाकर स्थिर हो गए हों।"

"और मेलबोर्न क्रिकेट क्लब जितनी गंभीरतासे क्रिकेटकी नियमावली बनाती है उसी गंभीरता से उनके (भार्गवो के) नियम बने।"

लेखक अपने युग से ही तो उपमाओं को चुनेगा।

पाठक को यह कुटुम्ब की बुराइयाँ, स्त्रियों की नीचता, गाली गलौज तथा पंचायत का हाल पढकर स्वानुभवों का स्मरण हो आता है क्योंकि ये घटनाएं भारत के लिए सार्वदेशिक बन गई है।

द्वितीय खण्ड का प्रारम्भ बहुत नवल ढंग से किया गया है। इसमें किसी अंग्रेजी लेखक की छाया झलकती है। बाल्यकाल की कथा सच-मुच एक कुतूहलपूर्ण उपन्यास जैसी लगती है। मुंशी वर्तमान से अतीत की ओर बढते है—पिक्योरिटी प्रिजनर, माननीय गृहमन्त्री, देश-भक्त, पण्डित, वकील और बम्बई विश्वविद्यालय के सदस्य मुंशीजी अपने बाल-रूप के दर्शन करते है। इन पृष्ठों में मुंशीजी की अहमता भी कुछ-कुछ टपकती है। एक दिन हमारे एक मित्र ने कहा "भाई! जो अधम कार्य तुमने अपनी छात्रावस्थामे किये है, जिस प्रकार तुम लोगोंको बुद्धू बनाते हो जिस प्रकार तुम अधिकारियों को तंग करते हो वही सब तो मुंशी भी करते थे।" और सचमुच उसी सबके वर्णन मे मुंशी की आत्मकथा लेखन कला की महत्ता छिपी हुई है। जब हम मुंशीजी को नाटक देखने जाने के लिए आतुर देखते हैं तब अपने बचपन की स्मृति हरी हो उठती है तथा जो-जो नाटक स्वाँग, रामलीला आदि हम बचपनमे देख चुके है पुस्तक बन्द करके हम पुन. उन्हें एक बार देखने लग जाते हैं।

जिनके डर से हरि को क्षीर सागर में सोना पड़ा था, महादेव जी को हिमालय का सेवन करना पड़ा था, उनका वर्णन तो सुनिए—

"इन वीरो की अनेक जातियो से मुझे सारी जिन्दगी लडना पडा है। अंगूठी मे जड़ने वाले छोटे, गोल नगीनो के समान जात वालो को भी मैंने देखा है। ताश के पत्तो के लाल पान जैसो को मैंने देखा है। आधी रात मे छत से पैराशूटिस्ट के समान बिस्तर में झपट कर दिन निकलने से पूर्व उडने वाले, जर्मन रेडर की तरह आदर्शरूप, बीजापुर जेल के लम्बे-चौडे पुष्ट गेहूं जैसे रंग के वीरो को भी देखा है। और यरवदा जेल के वीर खटमलो को भी मैंने देखा है। किंतु चंचलता और

हिम्मत मे, आक्रमण करने की दृढता मे, डक मारने की होशियारी मे ऐसे खटमलो को मैंने कभी नहीं देखा।"

संस्कृत काल से खटमल महोदय कवियो की कविता के विषय बनते चले आए है। यदि मुंशीजी ने उस परम्परा को अटूट रखा तो इसमे कोई बुराई नही। प० नेहरू यदि एनिमल्स इन दि जेल (जेल के जीव) मे छिपकली और बिच्छुआ पर रीझे है तो मुंशीजी भी खटमलो पर रीझे, क्योकि हैं तो ये लोग भाई बन्द ही।

"इस प्रकार दिन, सप्ताह और महीने बीत रहे थे, और भाई के कालेज से लौटने के दिन आते, आकाश नये रंग मे रंगता, भाई का पेट खराब होने के कारण उसके मन-पसन्द भोजन की तैयारी की जाती, घर लीपा जाता तथा गद्दी तकिया तैयार किया जाता, दीवानखाने के आदमकद शीशे पर से कपडा हटाया जाता। इस तरह दिनो तक भाई के आने की गूंज रहती।"

आज भी क्या प्रत्येक घर मे जब बेटा छुट्टियो मे घर आनेवाला होता है ये सब बाते नही होतीं ? इस सबको पढकर हमको माता की ममता का भान होता है । आत्म-कथा मे छोटी-छोटी बातों का समावेश बहुत आवश्यक होता है। मुंशीजी की आत्म-कथा में ऐसे अनेक उदाहरण भरे पडे है। किन्तु लेखक को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह केवल ऊपर-ऊपर की ही बातो में कथा को न उडादे उसे अपने अन्तर की, हृदय तल की बाते भी धरातल पर लानी चाहिए।

पर पुत्र के लिए माता की चिता और सेवा का कितना सजीव चित्रण हुआ है। यहा मुंशीजी व्यष्टि के स्तर से समष्टिके स्तर पर चढ चले हैं। यह मुंशीजीकी अपनी कहानी नहीं, साधारण समाजकी कहानी है तथा ऐसे ही स्थान पर साधारणीकरण सर्वाधिक पूर्ण मात्रा में होता है।

जब आदमी दूसरे आदमी से बदला नही ले सकता तब वह अपने पर ही झुंझला उठता है, इस मनोवैज्ञानिक सत्य को मुंशीजी ने कितने नये-तुले शब्दो मे रखा है—

"यह तो मेरी कृपा की दीन भिखारिणी थी। इसके साथ क्रूरता का वर्ताव मेरे लिए कठिन था। इसलिए मैं अपने ऊपर क्रुद्ध रहता।"

"वहाँ से बरामदे के नीचे होकर मैंने बन्द हाल के भीतर देखा। वहाँ अंधेरा था। वहाँ प्लेटफार्म पर सोलह वर्ष के एक लड़के को देखा। वह ढीली धोती, बिखरे बालों मे शेरिडन और सुरेन्द्रनाथ के अवतरण बोल रहा था।"

कैसी स्मृति-उत्तेजक चलचित्र की फ्लैशबैक (अतीत घटना प्रदर्शन) शैली है।

आत्म-कथा लेखक की महत्ता किस बात मे निहित है उससे मुंशी जी पूर्णतया परिचित हैं।

"मार्कोफ्लिकस और शेली, रूसो, गेटे और गान्धी इन लेखकों ने किसलिए अपने जीवन-चरित्रों में गुह्य-से-गुह्य बातों को जगत् के सामने खोलकर रख दिया।

"जगत् की मानवता और महत्ता मनुष्य जो कुछ करता है उसमे नहीं है, जो सिद्ध करता है उसमे भी नहीं है, वह तो अंतर के मन्थन में चलते संवाद अथवा विसंवाद मे है।"

मिठाई के पैसे से अतर खरीदना, नाटक के गायन गाना, गागरिया भर की भारत की कथा, रूमाल से हाथ धोना, नवाब साहब द्वारा दीवान का खून करने का संकल्प, बीबी का वियोग, संस्कृत पढने मे कठिनाई, ऊँट की सवारी, छप्पन का दुष्काल, महादेव की भक्ति, पटाखों का मास्टर के जूतों के नीचे फूटना, महमद शफी, माता की ममता आदि विषयो को पढ़कर हम असीम रस का अनुभव करते हैं। विद्यार्थी-जीवन मे मुंशीजी ने किस प्रकार साहित्यिक तथा राजनीतिक उन्नति की उसका परिचय भी हमें 'अडधे रस्ते' मे मिलता है। तथा किस प्रकार उनके जीवन मे पश्चिम और पूर्व का सम्मिलन हुआ इसका भी आभास प्राप्त होता है।

मुंशीजी समझ-बूझ के साथ महापुरुष बने हैं। मुंशीजी ने सोचा मुझे बड़ा बनना है, उसके लिए उन्होंने प्रयत्न किया और वे बड़े बन गए।

मुंशीजी ने बडा बनने के लिए दृढ सकल्प किया उसके उपाय सोचे, उसके लिए प्रयत्न किया, और उसमे सफलता प्राप्त की। पश्चिमी ढंग से महत्ता के शिखर पर पहुँचने में मुंशीजी निश्चय ही भाग्यशाली रहे हैं।

(सीधी चढ़ान, उत्तरार्ध) की सरणि देखिए तथा उसमे जो प्रतिशत अङ्क दिये गए हैं उन पर भी दृष्टिपात कीजिए तो आपको तुरन्त ज्ञात हो जायगा कि मुंशीजी ने महत्ता प्राप्त करने के लिए कैसा गणना पूर्ण प्रयास किया है।

मुंशीजी ने अपनी कृतियों को तीन भागो में बाँटा है—

"उपन्यास के लेखक के नाते मेरी सृजन-कला मुझे तीन रंग की दीख पडती है। पहले ढंग मे मैं केवल आत्म-कथन (अपने सुख-दुख का वर्णन) करता हूँ। दूसरे ढग में मैं अपने अनुभव कल्पना में रखकर उनका निर्माण अनुरूप पात्रों व प्रसंगों द्वारा करता हूं। और तीसरे प्रकार में मैं अनुभूत मनोदशा का कल्पनात्मक अनुभव करके उनके आधार पर मुख्य पात्रो और प्रसङ्गो का निर्माण करता हूँ।"

मुंशीजी ने योग-साधन करने का भी प्रयास किया है तथा अपनी एकाग्रता में भी वे सफल हुए हैं किन्तु योगी बनने की उनकी अभिलाषा पूरी नही हो पाई इस बात को भी उन्होने स्वीकार किया है। मुंशीजी ने गीता का केवल शुद्ध-पाठ ही नहीं किया है प्रत्युत उस को अपने जीवन में उतारा भी है।

"जो मनोदशा मुझे प्राप्त करनी होती है वह प्राप्त हो गई है, इस सूत्र का मैं बराबर मनन करता हू। इसी तरह वह सचमुच प्राप्त हो जाती है।"

"जब मैने 'वेरनी वसूलात' लिखी तब एकाग्रता से कल्पना मे प्राप्त करके देखा हुआ व्यक्ति शब्दो मे किस प्रकार सजीव होता है और सजीव प्राणियो पर वह किस प्रकार प्रभाव डालता है, उसका मुझे ज्ञान

हुआ।"

"इससे मुझे नई बात सूझी कि एकाग्रता से कुछ गुणों का आरोपण यदि दूसरे मनुष्य में किया जाय तो अवश्य ही वे गुण उनमें विकसित होते हैं।"

इधर हम देखते हैं कि मुंशीजी योगी के बहुत निकट पहुँच गए हैं। प्रत्येक साहित्यिकको प्रोत्साहककी आवश्यकता होती है तथा यश और धन का लोभ भी लेखक को प्रेरणा देता है। मुंशीजी के जीवन मे इन सब बातों का योग आ उपस्थित हुआ। चन्द्रशकर उनके पीछे पडने वालो मे सबसे प्रथम थे। लेखो पर मिलने वाले पैसों का लोभ मुंशीजी भी संवरण न कर सके थे। 'सीधा चढ़ाण' के उत्तरार्ध मे स्रष्टा की श्रेणी से हटकर आत्म-विवेचक बन जाते हैं। मुंशीजी ने अपनी कथा के कई पात्रो के रूपक में अपना ही चरित्र-चित्रण किया है।

मुंशीजी ने स्पष्ट शब्दो मे ड्यूमा का आभार स्वीकार किया है तथा एक स्थान पर उसे उच्च साहित्यकार के अनुरूप अभिनन्दन भी अर्पित किया है।

मुंशीजी विश्व-साहित्य के अच्छे अध्येता हैं तथा उनके चरित्र पर पूर्व और पश्चिम का समान रूप से प्रभाव पडा है। मुंशीजी ने विश्व-साहित्यकारो के प्रति बडा आदर दिखाया है—

"बचपन से ही मैने जगत् के साहित्य के स्वामी-व्यास और कालीदास, होमर और गेटे, ड्यूमा और ह्यूगो, शेक्सपियर और शैलीके चरण की धूल को सिर झुकाकर चढाया है।"

आज भी उनके निजी पुस्तकालय मे चोटी के कलाकारो की संपूर्ण कृतियाँ सुन्दर ढंगसे सुसज्जित हैं। अच्छा ही हुआ मुंशीजीको व्याकरण की चाट नही लगी, नही तो वे शायद भाषा विज्ञानवेत्ता बन जाते और साधारण लोगो के हृदय-दुलारे न बन पाते।

इसमे सन्देह नहीं कि मुंशीजी की आत्मकथाएँ सुपाठ्य सामग्री से

पूर्ण हैं और महत्त्वाकांक्षी युवको के लिए पथ प्रदर्शन का काम भी करती हैं। मुंशी वह दीपस्तंभ है जो भूले-भटकों को पंथ दिखाता है तथा निराश प्राणियों से कहता है—"हिम्मत न हारो। अपने चारों तरफ के अन्धकार को चीरकर आगे बढ़ो। एक दिन तुम ऊँचाई पर बैठ कर प्रकाश मे घिर जाओगे और सारे जग को भी अपनी ज्योति से जग-मगा दोगे।" 'अडधे रास्ते, और 'सीधां चढाण' से मुन्शी द्वारा अधीत पुस्तकों की सूची भी बनाई जा सकती है जो विश्व-साहित्य के प्रेमियो के बडे काम की वस्तु होगी।

'मारी बिन जवाबदार कहानी' कोई आत्म-कथा नहीं है इस लिए इस विवेचन में उसको लेने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। किंतु फिर भी प्रवास के संस्मरण होने के कारण उसपर भी एक सरसरी दृष्टि डालना अनुचित नहीं होगा। जिस उत्साह से लेखक ने इन संस्मरणो को प्रारम्भ किया था वह उत्साह आगे चलकर ठंडा पड गया इसलिए आदि और अन्त में हमको दो विभिन्न शैलिया दिखलाई पडती हैं। अन्त मे निराश होकर मुंशीजी को अपनी कहानी अधूरी छोड देनी पडी। मुंशीजी ने प्रारम्भ मे कहा है—

"साहित्य के प्राचीन सिद्धान्तो! इस समय चले जाओ। व्याकरण को सृष्टि के ब्रह्मा! मैं आपकी कौमदी को तिमराच्छन्न करने की ढिठाई करता हू। साहित्य के चौकीदारो! तुम्हारे भय और चिन्ता का विचार करने का समय मेरे पास नही है! मेरी मुमुक्षु आत्मा को उनकी परवाह भी नही है! 'विड फार फ्रीडम'—आजाओ।"

पुस्तक के आरम्भ में मुन्शीजी ने जो प्रतिज्ञा की है उसको सम्भ-वत पूरी तरह निभा नहीं पाए। प्राचीन संस्कारो ने शायद मुन्शीजी को सारी मान्यताएं नही ही तोडने दीं।

मुन्शीजी स्वयं दूर होकर भी अपने को अन्य पुरुषों के सामान देखते हैं। इस अनासक्ति से वे अपने को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं

मानो दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देख रहे हो—

"एक लडका आधी रात में कालेज के कम्पाउन्ड मे घास पर पडा था। नेपोलियन और रोम ने उसके दिमाग पर कब्जा कर लिया था।"

मुन्शीजी में एक विषय, एक घटना, एक बात को बढ़ाकर वर्णन करने की बडी अद्भुत शक्ति है। लिखते-लिखते वाक्यों की एक धारा निकलती है। इनके उदाहरण देखिए—

"किन्तु मित्रों ने सचमुच हद कर दी। जब तक मैने परदेश जाने का निश्चय नही किया था तब तक उनकी मित्रता का मै अनुमान नहीं कर सकता था। उनकी मुसकराहट में मुझे वर्षों का संचित स्नेह दिखाई दिया, नेत्रों मे वियोग से व्याकुल अन्तर का दुख दिखाई दिया, एम०-एम० मे फिर मिलने की आतुरता की ध्वनि सुनाई दी। मन मे शका उत्पन्न हुई कि क्या मै सचमुच इस मैत्री और स्नेह के योग्य हूँ।"

साथ-साथ वे कुछ अपने सिद्धान्त भी गढ़ते चलते हैं—

"जितनी तुममें सलाह देने की शक्ति है उतनी तुममे मानवता है। मनुष्य का स्वभाव हर वस्तु में दिलचस्पी लेने का है।"

जब आदमी देश छोडकर विदेश जाने लगता है तब उसको अपने देश की छोटी-छोटी बातें भी स्मरण होने लगती है।

"और जैसे ही स्टीमर बन्दरगाहमे से निकला वैसे ही मुझे कोर्ट की याद आ गई..."

"मानो यह पूज्य देवता का मन्दिर हो इसी तरह वर्षों तक मै इनके चरणों मे बैठकर तथा भक्ति करके उम्र बिताई।"

मुन्शीजी की उपमाएं सचमुच अंतर को छूने वाली हैं।"

"अपने रूप के गर्व मे वह (स्टीमर)पानी को चीरता जा रहा था। जिस प्रकार मनुष्यके स्मृति-चिन्ह छूटते जाते है उसी प्रकार वह अपने आप चला जा रहा था और अपना स्मरण छोडता जाता था।"

आगे लेखक अपनी लेखनी को सम्बोधित कर कहता है—

"पर जब तक तेरा और मेरा साहित्य वर्तमान है तब तक रुचि के अनुकूल युग मे विचरने, रुचि के अनुकूल मौज उडाने और इच्छानुसार मनोविनोद करने से हमे कोई भी शक्ति रोक नही सकती।"

महाकवि रवीन्द्र भी अपनी कल्पना द्वारा विश्व के देशों मे विचरण किया करते थे।

लेखक ने 'सागर' के विभिन्न रूपों का वर्णन करने में कैसी सूक्ष्मता, माधुर्य और निरीक्षण शक्ति का परिचय दिया है। सूर्यास्त के समय, ज्योत्सना मे और अंधकार मे डूबे सागर का वर्णन लेखक के प्रकृति प्रेम का परिचय देता है।

लेखक आज समाज मे स्वास्थ्य की कमी, कला की कमी देखकर खीझ उठता हैं।

"हम तपस्वियों की सन्तानों को स्नायु से, शक्ति से तथा सौन्दर्य से क्या?"

आजकल जहाँ संगीत का प्रदर्शन होता है वहां श्रोतागण कैसा व्यवहार करते हैं उसको भी सुनिए—

"इस अवस्था का कारण बेकदर लोग हैं। उनको हृदय की बात नहीं चाहिए। उनमें जो 'तान तोडखां' होते हैं उन्हे अटपटे स्वर की पटेबाजी चाहिए। बाकी के लोगो को तूफान चाहिए, मस्ती चाहिए, आगे बढ-बढ़कर हंसी-मज़ाक चाहिए। उनमें संगीत की कोई कदर नहीं है। उनमे किसी रूपवती स्त्री के साथ निर्लज्ज नखरे दिखाकर हृदय में छिपी हुई लालसा को संतुष्ट करने की धुन होती है। फिर भी कभी-कभी कोई गायक ऐसी दुर्दशा पर भी विजय प्राप्त करता है।"

इस वर्णन से आगे रोम का इतिहास दिया गया है। उसकी सस्मरणो मे क्या आवश्यकता थी? वह तो पाठक किसी रोम के इतिहास की पुस्तक से पढ़ सकता था।

यूरोप की कला-कृतियां देखकर मुंशी के मन मे बडे आनन्द तथा साथ-ही-साथ बडे विषाद का भी जन्म हुआ। उनके मस्तिष्क मे एक ही

विचार चक्कर काटने लगा—कब भारत, कब गुजरात भी ऐसी उच्च कोटि की कला कृतियों का निर्माण कर सकेगा तथा कब हमारे यहाँ की प्रजा-कला प्रेमी और सुसंस्कृत बनेगी। यह आग मुंशीजी के हृदय में यूरोप में ही लगी थी जो उनको आज गुजरात को व्यक्तित्व प्रदान करने की प्रेरणा दे रही है।

पूर्व का सबसे बड़ा दुर्गुण है—

"मिश्र, एबिसीनिया और हिन्द का दुर्भाग्य है कि यहाँ कला प्रकट होते ही रूढ़ियों में बंध जाती है। इस तरह कला मे जड़ता आजाती है, रूढियाँ निश्चेतन होजाती हैं, महाकाव्य सूत्र बन जाते हैं।"

मुंशीजी अपने मानसिक जगत में पश्चिम का दर्शन परोक्ष रूप से पहले से ही कर चुके थे। इस प्रवासने कल्पनाको साक्षात् रूप दे दिया। कला-कृतियो का वर्णन भी भली प्रकार से किया गया है।

इस प्रकार आत्म-कथाकार के रूप में भी मुंशीजी का अपना निराला स्थान है।

अंग्रेजी रचनाएं

मुंशीजी की अधिकाश अंग्रेजी रचनाओं मे बम्बई प्रान्त की धारा सभा मे सदस्य और गृह सचिव के रूप में, बम्बई विश्वविद्यालय की सीनेट के सदस्य के रूप मे लोकमंच से वक्तव्यों के रूप मे, पत्रकार-भेंट के रूप में, संस्थाओ और सम्मेलनो के भाषणो के रूप में दिये गए व्याख्यानों का संग्रह है तथा अपने अंग्रेजी पत्र, सोशल वेलफेयर के लेखो और टिप्पणियो का संकलन है। इन लेखों की परिधि इतनी विस्तृत है कि मानव जीवन के प्राय. सभी क्षेत्र इसमे नाप डाले गए हैं।

: १ :

स्पार्क्स फ्रौम दि एनविल (निहाई की चिनगारियां)

लेखों का एक सग्रह इस नाम से प्रकाशित हुआ है।

मुंशीजी ने व्यक्तिगत और सार्वजनिक रूप से स्वीकार किया है कि अंग्रेजी पर उनका बहुत अधिकार नही है और वे उचित शब्दों या मुहावरो का सद्प्रयोग नहीं कर सकते। महामन मालवीयजी, महात्मा गाधी, श्री अरविन्द घोष, श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, पं० जवाहरलाल नेहरू तथा स्व० माननीय श्रीनिवास शास्त्री के समान उनका अंग्रेजी पर उतना प्रभुत्व नही है जितना गुजराती पर। किन्तु फिर भी उनकी शैली बँधी हुई है और उस पर सुलेखक की छाप लगी हुई है। उनमें शब्दो की कमी भले ही हो किन्तु अभिव्यजना की कमी नही है। भावुक होने के कारण जब वे भावावेश से लिखने में तन्मय हो जाते हैं तो उनकी लेखनी स्वत. अपना स्वाभाविक मार्ग पकड लेती है।

: २ :

गुजरात ऐंड इट्स लिटरेचर

मुंशीजी की दूसरी अंग्रेजी कृति—गुजरात ऐंड इट्स लिटरेचर (गुजरात और उसका साहित्य)। इसका उद्देश्य था कि कलकत्ता विश्वविद्यालय के एम. ए. के विद्यार्थियों के लिए यह व्याख्यान माला के रूप में प्रस्तुत किया जाय किन्तु उन्हीं दिनों सविनय अवज्ञा आन्दोलन के कारण १९३० और १९३४ के बीच मे इन्हें बन्दी रहना पड़ा। इसलिए व्याख्यान तो वे नहीं दे सके किन्तु इस ग्रन्थ के अध्यायों का समुचित वर्गीकरण करने का उन्हें समय मिल गया। इस ग्रन्थ के इक्कीस अध्यायों में रुचिकर काव्य की सरसता से ओतप्रोत तीन खण्डों में उन्होंने प्रत्येक युग का साहित्य अत्यन्त विस्तार और विवेचन के साथ लिखा है। इसमे उन्होंने दो बातों पर विशेष ध्यान दिया है—एक तो गुजराती का व्यक्तित्व और आर्य जाति का परम्परागत सांस्कृतिक प्रभाव। पं० रामचन्द्र शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने मे जिस निष्पक्षता और सूक्ष्मदर्शिता का परिचय दिया है वह इस ग्रन्थ में भी है किन्तु युग की प्रवृत्तियों का जैसा विश्लेषण सामान्य परिचय के रूप मे शुक्लजी ने दिया है वह यदि इसमें भी होता तो ग्रन्थ और भी अधिक उपादेय बन जाता।

: ३ :

ग्लोरी दैट वाज़ गुर्जरदेश

इसके पश्चात् मुंशीजी की वह ग्रन्थमाला है जो 'ग्लोरी दैट वाज़ गुर्जर देश' (वैभवशाली गुर्जरदेश) नाम से भारतीय विद्याभवन, द्वारा चार खण्डों में प्रकाशित किया जा रहा है। उसका पहला खण्ड 'दि प्रीहिस्टोरिक वेस्ट कोस्ट' (प्रागैतिहासिक पश्चिमीय तट) और तीसरा खण्ड 'दि इम्पीरियल गुर्जर्स' (राजसी गुर्जर) छप चुके हैं। दूसरा और चौथा खण्ड 'गुजरात इन दि मगधन एण्ड दि क्लासिकल

एजेज़' (मगध और सांस्कृतिक काल मे गुजरात) तथा 'लाइफ ऐण्ड कल्चर अण्डर दि चालुक्यान आव् पाटण' (पाटन के चालुक्यों के समय में आचार और सस्कृति) तैयार किए जा रहे हैं। यह विशद ग्रन्थ मूलराज सोलंकी की सहस्राब्दि के अवसर पर प्रारम्भ किया गया था जो सवत् ६६८ मे अनहिलवाड पाटन के सिहासन पर बैठा था।

जो दो खण्ड छप चुके हैं उनमें मुंशीजी केवल नाम भर के संपादक नहीं हैं। इनमें से प्रथम खण्ड का दूसरा भाग 'आर्यन्स : प्रीवैदिक ऐण्ड वैदिक' (पूर्व वैदिक और वैदिक काल के आर्य) मुंशीजी का ही लिखा हुआ है और तीसरे खण्ड मे भी अधिकाश उन्हींका भाग है।

४ :
अखण्ड हिन्दुस्तान

मुंशीजी का 'अखण्ड हिन्दुस्तान' १६४४ में प्रकाशित हुआ था। उसके प्रकाशन के साथ-साथ मुंशीजी के अखण्ड भारत-आन्दोलन से लोगो को यह विश्वास होने लगा था कि ये हिन्द राज्य के पोषक और मुसलमानो के विरोधी हैं। इसीलिए राष्ट्रीयतावादी लोग भी यह कहने लगे कि मुंशीजी ने व्यर्थ मे यह साम्प्रदायिक झगडा खडा किया है। इस ग्रन्थ को केवल पाकिस्तान का विरोधी ग्रन्थ ही नही कहा जा सकता किन्तु यह एक प्रकार का इतिहास है जिसमें उन्होंने भारत का इतिहास और उसकी संस्कृति एक विद्यार्थी के रूप मे अत्यन्त सचाई के साथ उपस्थित की है। इसमें लगभग तीस अध्याय हैं और यह सब उन लेखों और व्याख्यानो का समन्वय है जो उन्होंने १६३८ और ४२ के बीच लिखे या दिये थे। इस ग्रन्थ में मुंशीजी की देशभक्ति, उनके साहस और उनकी स्पष्टवादिता का अत्यन्त विशद रूप देखने को मिलता है।

: ५ :

दि चेन्जिग शेप ऑफ इण्डियन पौलिटिक्स

पूने से मुंशीजी का अभी गतवर्ष एक नया ग्रन्थ छपा है—'दि चेन्जिग शेप ऑफ़ इण्डियन पौलिटिक्स'[भारतीय राजनीति का बदलता हुआ रूप]। यह वास्तव में मुंशीजी के पहले 'ग्रन्थ दि इंण्डियन डेड-लौक' (भारतीय गतिरोध १९४५) का ही परिवर्द्धित संस्करण है। यह पहला संस्करण सोशल वेलफेयर में लिखे हुए लेखों का संग्रह था और सप्रू कमेटी में जो उन्होंने अन्तिम स्मरणपत्र भेजा था उसका ही अन्तिम अध्याय था। किन्तु नए संस्करण में और भी अन्य लेख सम्मिलित कर लिये गए हैं। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसके द्वारा भारतीय राजनीति का पूरा विवरण पाया जा सकता है। इसमें विशेष रूपसे भारतीय राष्ट्रीयता के विरुद्ध प्रो० कूपलैंड ने जो आरोप लगाए हैं उनका अत्यन्त युक्ति-युक्त उत्तर दिया गया है।

: ६ :

आइ फालो दि महात्मा

मुंशीजी का एक व्यक्तिगत ग्रन्थ है 'आई फालो दि महात्मा' (१९४०)[मैं महात्माजी का अनुगामी हूं]। उसमें इन्होंने गाँधीजी और उनके सन्देशों और सिद्धान्तो का अत्यन्त विशद और भावुकतापूर्ण विवेचन किया है, विशेष रूप से इस दृष्टि से कि मुंशीजी के जीवन पर गाँधीजी के व्यक्तित्व का क्या प्रभाव पड़ा है और किस प्रकार वर्तमान भारतीय जीवन के अनेक अंगो को गाँधीजी ने परिवर्तित कर दिया।

: ७ :

दि रुईन देट ब्रिटेन रौट

(ब्रिटेन द्वारा विनाश) (१९४६) अत्यन्त शक्तिशाली ग्रन्थ है। इसमे उन्होंने भारत की दीन-हीन दशा का नग्न-चित्र उपस्थित किया है और वे अत्यन्त क्रोध से कहते है कि यह सब ब्रिटेन का काम है। वे एकसौ बहत्तर वर्ष पहले आए, हमारा व्यवसाय नष्ट किया, साधन सुखा

डाले, उन्नति रोक दी, खाना कम कर दिया। सब बातो में पीछे छोड दिया और कुछ थोडे से व्यवसायियो को छोडकर ब्रिटिश राज ने भारत की दरिद्रता ही बढाई है। निश्चित आँकडो मे यह सिद्ध होता है कि स्वराज को छोडकर भारत के पास सब कुछ है, उसके करोडो स्त्री पुरुष और बच्चे अस्वस्थ, और भूखे हैं। वे सदा त्रस्त रहते हैं, वस्तुओ की कमी, निरक्षरता, रोग, सुस्ती, कलह हमारे भारतीय समाज को कस कर जकडे हुए है। इस ग्रन्थ में मुंशीजी ने उन लोगो की आँखे खोल दीं हैं जो अभी तक भी ब्रिटेन का गुण गाते नही अघाते।

: ८ :

दि मैसेज इटर्नल, दि क्रिएटिव आर्ट ऑफ लाइफ

मुंशीजी के राजनीतिक और साहित्यिक जीवन में गुंथा हुआ उनका बौद्धिक क्षेत्र भी कम उन्नत नही है। गीता पर उनके निबन्ध 'दि मैसेज़ इटनल' (शाश्वत सन्देश) के नाम से छपने वाले है और उनको दूसरी पुस्तक 'दि क्रिएटिव आर्ट ऑफ लाइफ' (जीवन की रचनात्मक कला) भारतीय शिक्षा के नए सिद्धान्तों का निरूपण करती हुई प्रकाशित होगई है। इसमे केवल शिक्षण विधि या मनोविज्ञान की चर्चा नही है। उसमें शिक्षा के उस वास्तविक अर्थ की विवेचना की गई है जिसकी मीमासा हमारे प्राचीन ऋषियों और मुनियों ने की थी। इसमे मुंशीजी ने यह समझाया है कि हमारी विद्या का आधार आत्मसंस्कार होना चाहिए। अध्यापक संस्कृति के दूत होने चाहिएं और विद्यार्थी में स्वत· संस्कृत होने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। भारतीय शिक्षा के अधिकारियो के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्व का है। इसके साथ-साथ मुंशीजी की लिखित रचनाओं की समाप्ति होती है।

किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि उनकी लेखनी रुक गई है। उनका उद्योग निरन्तर चलता रहता है और अभी भी वे नियमित रूपसे लिखते ही जाते है।

कहा जाता है कि एक तिहाई गुजराती साहित्य में मुंशीजी व्याप्त

है और यह आश्चर्य की बात है कि इतने बहुधन्धी और व्यस्त जीवन में भी वे अपनी साहित्य--साधना में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं आने देते। हम इसी मंगल कामना से लेखनी को विश्राम देते हैं कि मुंशीजी की लेखनी अमर होकर अमर रचनाओं की सृष्टि करे और जगत् को शाश्वत सन्देश देकर सदा नवजीवन देती रहे।

मुन्शीजी की प्रतिभा

[परिचयात्मक तथा आलोचनात्मक]

श्री मुन्शीजी से मिलने के लिए उनके प्रकोष्ठ के बाहर लगभग आठ सज्जन प्रतीक्षा कर रहे थे। भीतर कोई महत्वपूर्ण मन्त्रणा चल रही हो ऐसा प्रतीत होता था। एक भाई ने मुझसे पूछा—"कब से आये हो ?"

"दस मिनट हुए। आपको ?" मैंने पूछा।

"मैं आधे घण्टे से बैठा हूँ" उन्होंने कहा।

"क्या कुछ आवश्यक काम है ?"

"नहीं, आवश्यक काम तो कुछ नहीं है, यही भारतीय विद्याभवन के सम्बन्ध में उनसे कुछ परामर्श करना है। ये भाई," दूसरे एक गृहस्थ की ओर संकेत करके कहा, "ये भी २० मिनट से आये हैं। बाल-भिखारियों की समस्या जो मुंशीजी ने आजकल उठाई है उसीके विषय में चर्चा करने के लिए ये आये हैं।"

"यह मुंशी अकेला कितने काम करता है ? इन सबको योग्यतापूर्वक कैसे संभालता होगा ?" तीसरा एक भाई बोला।

श्री मुंशी ने जितने क्षेत्रों का कुशलतापूर्वक नेतृत्व किया उनकी केवल सूची दी जाय तो भी सारा पृष्ठ भर जायगा। मुंबई सरकार के गृहमन्त्री के रूपमें इन्होंने कैसा और कितना कार्य किया यह समस्त प्रजा जानती है।

गृहमंत्री के पद पर अधिष्ठित होकर ये केवल हस्ताक्षर ही नहीं करते थे वरन् महासभा के कार्यक्रम को जैसे बने वैसे शीघ्र ही कार्य रूप मे परिणत करने के लिए, हिंदु-मुस्लिम दंगे के अनिष्ट को मुंबई से सदैव के लिए दूर करने के लिए, जेल का सर्वाङ्गीण सुधार करने के

लिए, कानून के द्वारा हरिजनों पर होने वाले अन्यायों को दूर कराने के लिए, शैशव-काल मे ही मृतप्राय हो जाने वाले बाल-भिखारियों को फिर से मनुष्यत्व युक्त नागरिक जीवन व्यतीत कर सकने योग्य बनाने के निमित्त विशाल योजना का निर्माण करके उसे कार्य रूप मे परिणत करने के लिए, तथा पुलिस शासन से लोगों को भय-मुक्त करके पुलिस को रक्षण का साधन बनाने के लिए भी मुंशी ने जो परिश्रम किया है उसका विचार करने-मात्र से हमें स्वयं थकावट होने लगती है। और सब काम छोड़कर यदि वे केवल गृहमंत्री का भार ही सँभाले रहते तो भी सब यही समझने को बाध्य होते कि वे एक मनुष्य के सामर्थ्य से बाहर का काम कर रहे है। परन्तु इन्होंने और बहुत-सा काम अपने सिर ले लिया मानो इतना काम भी अल्प हो। साहित्य परिषद् के प्रमुख रूप से ये केवल परिषद् का सूत्र संचालन ही नहीं करते हैं, वरन् परिषद् के प्राण बने हुए इसके लिए अनेक योजनाएँ भी बनाते हैं। योजनाएँ बना कर ही केवल शान्त नहीं बठे रहते हैं, वरन् उनको कार्य रूप में परिणत कराने के लिए भी अथक प्रयास करते हैं। पाटणमें "हे सारस्वत सत्र" मनाना आवश्यक समझते ही थे उसके लिए द्रव्य एकत्र करने, लेख और निबन्ध तैयार कराने, पाटण जाकर सम्मेलन की तैयारी करने की सारी व्यवस्था भी ये स्वयं करते हैं। संसद् के कार्य क्षेत्र की परिधि विस्तृत करने के लिए उसके मंत्री जो व्यवस्थाएँ कर रहे हैं उन सबके पाछे श्री मुशीजी की प्रेरणा छिपी होती है। इसके अतिरिक्त अपनी प्राचीन संस्कृति, और गुजराती भाषा तथा साहित्य का बराबर अभ्यास बढ़ाने के लिए उन्होने भारतीय विद्याभवन की स्थापना की है और इससे सम्बन्ध रखने वाली सभी योजनाओं का संचालन कर रहे हैं।

इतने अधिक कार्यों—और वे भी इतने विविध प्रकार के कि एक मे व्यवहार-कुशलता की आवश्यकता है तो दूसरे मे कल्पना और भावना

का सूत्र संचालन भी मुन्शीजी अकेले कैसे कर सकने हैं—और कुछ नहीं तो इनके लिए ये समय कहाँ से निकाल लेते हैं–यह बात बहुतोंकी समझ में नहीं आती। मनुष्य की वृत्तियों का विभिन्न दिशाओं में दौड़ना स्वाभाविक है,परन्तु उसके कार्य विविध दिशाओंमें इतने नही फैलते। कार्यों की दिशा बहुधा एक ही या एक समान होती है।

श्री मुन्शीकी प्रतिभा अनेक विषयोंमें संचरण कर सकती है। कविता के अतिरिक्त साहित्य के लगभग सभी स्वरूपों का इन्होंने सृजन किया है। इन्होने उपन्यास लिखे,नाटकोंकी सृष्टिकी, छोटी कहानियो का सृजन किया और निबन्ध लिखे। इतिहास, विवेचन, संस्कृति, आचार, प्रवास, राजनीति आदि विविध विषयों पर इन्होने सफलतापूर्वक बहुत कुछ लिखा है। इस प्रकार जैसे इन्होने वाङ्मय के भिन्न-भिन्न प्रदेशो मे विचरण किया है उसी प्रकार जीवनमें भी इन्होंने विविध कार्य हाथ में लिये हैं।

जैसे वेग और त्वरा इनकी साहित्य कृतियों का प्रधान लक्षण है उसी प्रकार इनके जीवन-कार्यों का भी है। इनके पात्र अधिकाश कर्तव्य परायण होते हैं। जैसे इनके उपन्यासो मे एक के पश्चात दूसरा प्रसंग अत्यन्त शीघ्रता से आता जाता है उसी प्रकार इनके जीवन में भी एक के पश्चात् दूसरे कार्य का प्रवेश दृष्टिगोचर होता है। जिस कार्यको ये प्रारंभ करते हैं उसे तुरन्त और शीघ्र ही पूर्ण करनेकी इनकी हड़बड़ी प्रसिद्ध है। इसीलिए जहाँ एक ओर ये अनेक कार्य प्रारम्भ कर सकते हैं, वहाँ दूसरी ओर कितनी ही बार हड़बड़ी के कारण ये सभी कार्योंकी ओर पूर्ण ध्यान नहीं दे सकते हैं। इन्हे प्राय. दूसरो पर भरोसा रखना पड़ता है और इसीलिए सब कार्य इस प्रकार नही हो सकते हैं कि इन्हे पूर्ण सन्तोष हो।

अनारम्भो हि कार्याणां प्रथमं बुद्धिलक्षणम्।
आरब्धस्यान्तगमनं द्वितीयं बुद्धिलक्षणम्॥

जान पड़ता है कि इस सुभाषित श्लोकमें कहा हुआ पहला बुद्धिलक्षण

फिरता है। साहित्यकार के जीवन में सामान्य रीति से यही बात देखने में आती है और इसमे कुछ तथ्य भी है। परन्तु श्री मुन्शी के लिए तो साहित्यसृजन में सफलता मिलने वाली इनकी कल्पना शक्ति व्यवहार के प्रदेश मे भी इनके लिए सहायक सिद्ध हुई है। कल्पना के बल से वर्ण्य वस्तुका सारा चित्र उपस्थित करनेकी इनकी क्षमता से इनकी कहानियों के वाचक भलीभाँति परिचित हैं। जिस वस्तु,प्रसंग या पात्रका ये वर्णन या चित्रण करते हैं उसका सारा चित्र वाचक के मनोनयन के समक्ष आ खड़ा होता है। ये देखी हुई या अनुभव की हुई वस्तु का कल्पना की सहायतासे पुनःसृजन कर सकते है। इसी प्रकार लोक व्यवहारमे भी इनके समक्ष जो संदिग्ध प्रश्न उपस्थित होते है उनका वह कल्पनाके बल से ठीक-ठीक दर्शन कर लेते हैं, वह सारा प्रश्न और उसके साथ से सँकलित सभी वस्तुओ का अखण्ड चित्र इनके नयनो के सामने मूर्त खड़ा होता हैं। ये प्रत्येक वस्तु को इसी प्रकार यथार्थ रीति से देखते है। जो लोग केवल व्यवहार चतुर होते है वे प्रायः किसी वस्तु का ठीक स्वरूप नहीं समझ पाते। उनका संपूर्ण ध्यान वस्तु के एक देश की ओर उस समय दृष्टि के सामने आने वाले प्रदेश की ओर ही केन्द्रित हो जाता है। इसीसे उनका कार्य सर्वाङ्ग सम्पूर्ण नही हो सकता है, किसी-न-किसी प्रकार की उसमे त्रुटि रह जाती है। किन्तु मुंशीजी की सृजन कल्पना शक्ति उन्हे इस भूल से सदा बचाती रही है।

इनको सफलता दिलाने वाला दूसरा बड़ा गुण यह है कि ये वस्तु के साथ बहुत कुछ तादात्म्य स्थापित कर लेते है। योग मे जिसे समाधि कहते हैं उसीसे कुछ मिलता-जुलता यह गुण है। जिस वस्तु का इन्हे विचार करना होता है और उसमे भी जब समय कम रहता है तो ये उसका देर तक नही वरन् गम्भीर विचार करते है। जो काम सिद्ध करना होता है उस पर ये अपना समग्र सकल्पबल केन्द्रित कर देते हैं। कहा जाता है कि उग्र सकल्पबल की सिद्धि त्वरा से ही मिलती है, यह कदाचित् इनके सम्बन्ध मे उपयुक्त हो तो आश्चर्य की बात नहीं है। ये किसी

वस्तु की पूर्ण आवेग से इच्छा करते हैं, उसके साथ एकनिष्ठा से तन्मय हो जाते हैं, उसका तत्व त्वरा से पकड़ लेते हैं, और मानो इन सभी प्रक्रियाओं के परिणाम स्वरूप सिद्धि इनके सामने आकर खड़ी हो जाती है।

श्री मुन्शी को बहुत से लोग भाग्यदेवी के लाड़ले मानते हैं। 'ये भाग्यशाली हैं, इनको जिस वस्तु की आवश्यकता होती है वह इन्हें मिल जाती है।' ऐसा बहुत से मनुष्यों से कहते सुना गया है। यह कदाचित् सत्य भी होगा। परन्तु भाग्यदेवी सदैव किसी मनुष्य पर, अकारण कृपा नहीं करती। पवन जिस प्रकार तृण या घास को ऊंचे चढ़ाता है उसी प्रकार भाग्यदेवी भी कितनी ही बार सामान्य कोटि के व्यक्तियों को भी ऊंची पदवी पर पहुंचा देती है। परन्तु वैसे ववंडर

रहे है। आज इतने अधिक अविश्रान्त परिश्रम के पश्चात् ही भाग्यदेवी ने इनकी ओर प्रसन्नता से दृष्टिपात किया है।

योग्य मनुष्यों का चुनाव भी इनकी कार्यसिद्धि का एक महत्वपूर्ण कारण है। वे भिन्न भिन्न प्रकार के जो कार्य सिर पर लेते हैं उनको सफल बनाने के लिए कैसे मनुष्य किस समय उपयोगी हो सकेंगे और वे क्या और कैसा कार्य करेंगे उसकी ये निश्चित गणना कर लेते हैं और उसके अनुसार कार्य बॉट देते है। कुछ लोग कहते हैं कि मुन्शीजी स्वयं स्वेच्छाचारी हैं और एक निश्चित वर्ग के मनुष्यों को ही ये आगे आने देते हैं। परन्तु उसका सच्चा कारण इतना ही है कि वे यह भी जानते है कि किसी विशेषवर्ग के लोग ही कोई विशेष काम कर सकते है, दूसरे नही कर सकते और इसलिए वे वैसे ही मनुष्यों को इस प्रकार का कार्य सौंपते है। कुछ लोग ऐसा भी कहते है कि ये दूसरे मनुष्यों का विश्वास नही करते है परन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि किसी मनुष्य को काम सौंपकर ही ये उस पर पूर्ण विश्वास रखते हैं। हो सकता है कि ऐसे विश्वासका दुरुपयोग भी हुआ परन्तु किसी भी काम मे अपने अधीन रहने वाले मनुष्यो पर विश्वास किये बिना दूसरा मार्ग भी तो नही है। अपने आसपास एक मण्डल जोड़कर उसका अधिष्ठाता बनना इन्हे अच्छा नही लगता। किसी भी शक्तिशाली पुरुष के आसपास मण्डल स्वयं एकत्र हो जाता है और यदि उसका उपयोग वह बराबर करे तो उसके अनेक कार्य सरलता और सफलता के साथ पार उतर सकते हैं।

श्री मुन्शी के विषयमे अनेक प्रकार के मत प्रचलित है। जिस प्रकार इनके प्रशंसक बहुत-से हैं उसी प्रकार इनकी निन्दा करने वाले भी कम नही है। लोग कहते है ये महत्वाकांक्षी हैं, इन्हें अधिकार प्राप्त करने की लालसा रहती है, नेतृत्व करना अच्छा लगता है, अपनी ही मनमानी करते हैं। श्री मुन्शी महत्वाकांक्षी हैं यह सत्य है, परन्तु महत्व की आकांक्षा रखना कोई बुरी बात नही हैं। बिना योग्यता के ये किसी

रहे हैं। आज इतने अधिक अविश्रान्त परिश्रम के पश्चात् ही भाग्यदेवी ने इनकी ओर प्रसन्नता से दृष्टिपात किया है।

योग्य मनुष्यों का चुनाव भी इनकी कार्यसिद्धि का एक महत्वपूर्ण कारण है। वे भिन्न भिन्न प्रकार के जो कार्य सिर पर लेते है उनको सफल बनाने के लिए कैसे मनुष्य किस समय उपयोगी हो सकेंगे और वे क्या और कैसा कार्य करेंगे उसकी ये निश्चित गणना कर लेते हैं और उसके अनुसार कार्य बांट देते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि मुन्शीजी स्वयं स्वेच्छाचारी है और एक निश्चित वर्ग के मनुष्यो को ही ये आगे आने देते है । परन्तु उसका सच्चा कारण इतना ही है कि वे यह भी जानते हैं कि किसी विशेषवर्ग के लोग ही कोई विशेष काम कर सकते है, दूसरे नही कर सकते और इसलिए वे वैसे ही मनुष्यो को इस प्रकार का कार्य सौपते है। कुछ लोग ऐसा भी कहते है कि ये दूसरे मनुष्यो का विश्वास नहीं करते है परन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि किसी मनुष्य को काम सौंपकर ही ये उस पर पूर्ण विश्वास रखते हैं। हो सकता है कि ऐसे विश्वासका दुरुपयोग भी हुआ परन्तु किसी भी काम मे अपने अधीन रहने वाले मनुष्यो पर विश्वास किये बिना दूसरा मार्ग भी तो नही है। अपने आसपास एक मण्डल जोडकर उसका अधिष्ठाता बनना इन्हे अच्छा नही लगता। किसी भी शक्तिशाली पुरुष के आसपास मण्डल स्वयं एकत्र हो जाता है और यदि उसका उपयोग वह बराबर करे तो उसके अनेक कार्य सरलता और सफलता के साथ पार उतर सकते हैं।

श्री मुन्शी के विषयमे अनेक प्रकार के मत प्रचलित है। जिस प्रकार इनके प्रशंसक बहुत-से हैं उसी प्रकार इनकी निन्दा करने वाले भी कम नहीं है। लोग कहते है ये महत्वाकांक्षी है, इन्हें अधिकार प्राप्त करने की लालसा रहती है, नेतृत्व करना अच्छा लगता है, अपनी ही मनमानी करते हैं। श्री मुन्शी महत्वाकांक्षी है यह सत्य है, परन्तु महत्व की आकांक्षा रखना कोई बुरी बात नही है । बिना योग्यता के ये किसी

में आने वाले लोग जानते है कि दूसरे की बात ठीक प्रतीत होती है तो ये उसे तत्काल ग्रहण कर लेते है । अमुक कार्य अमुक प्रकार से होना चाहिए ऐसा निश्चित कर चुकने के पश्चात् बिना कारण दिखाए ये उस पद्धति का त्याग करके अन्य पद्धति का आश्रय नही लेते हैं । स्वयं सच्ची मानी हुई वस्तु का एकाएक कोई त्याग नही करता यह बात प्रसिद्ध है। परन्तु आवश्यकता प्रतीत होने पर दूसरे पक्ष की सत्यता प्रकट होते ही श्री मुन्शी स्वयं ग्रहण किया हुआ मार्ग बदल सकते हैं यह तो इसी बात से स्पष्ट है कि वर्षों तक महात्माजी के सिद्धान्त का विरोध करने के पश्चात् उनके सिद्धान्त मे सत्य का दर्शन होते ही इन्होंने उस सिद्धान्त को तुरंत स्वीकार कर लिया और इतना ही नही वरन् उसमें कार्यकर्ता के रूप से सम्मिलित भी हुए और महत्वपूर्ण भाग भी लिया । यो कहने को तो उन सभी शक्तिशाली पुरुषो पर मनमानी करने का आक्षेप किया जा सकता है जिन्होने संसार मे कुछ भी कार्य किया है ।

'श्री मुन्शी आर्य संस्कृति का अधिक पक्षपात करते हैं,' 'मुन्शी को हिन्दूधर्म का तनिक भी अभिमान नही है, ''मुन्शी ब्राह्मणोंकी व्यर्थ ही बहुत प्रशंसा करता है', 'मुन्शी ब्राह्मणो की हँसी उडाता है,' 'श्री मुन्शी स्त्रियों के प्रति उदार नहीं हैं। ऐसे परस्पर-विरोधी आक्षेप भी इनके विषय मे सुने जाते हैं ।

श्री मुन्शी के लेखो में से परस्पर-विरोधी उक्तियां ढूँढ निकालना कठिन नही है । कुछ लोग कहते है कि वकील होने के कारण उन्हे जो सिद्ध करना होता है उसे पुष्ट करने के लिए नये तर्क निकाल लेते हैं और यदि कभी विरोधी पक्ष का समर्थन करना पड़ जाय तो उस पक्ष के समर्थन के लिए तर्क देने लगते हैं । परन्तु वास्तविक बात यह है कि इनके वचनो में सदैव विरोध नहीं रहता है । अधिकतः तो वह केवल विरोधाभास होता है और जो लोग इनके स्वभाव को जानते हैं उन्हे तो इस विरोधाभास की चाबी इनके स्वभाव में से ही मिल जाती है ।

मुंशीजी भावुक हैं,भावोंका वेग आने पर ये रुक नहीं सकते,इसीमें

है। उधर विलास का सेवन करने वाला मुंज वैराग्य की दृढ़ता वाला है। विलासी जीव जिस प्रकार विलास मे बह जाते है उसी प्रकार मृणाल त्याग मे बह जाती है। इसमे अपनी कोई शक्ति नही है। मुंज विलास और उल्लास मानने पर भी सपूर्ण स्वास्थ्य-स्थितप्रज्ञ के समान स्वास्थ्य सुरक्षित रख सकता है। जितनी रसिकता से वह प्रणय की बाते करता है उतनी ही दृढ़तामे वह मृत्युका भी आलिङ्गन करता है। जीवनमे वह विजयी होता है, क्योकि वह मृत्यु पर भी शासन कर सकता है। वस्तुत: वह सुख-दु:ख और जीवन मृत्यु के द्वन्द्वसे परे रह सकता है। वह विलास का उपभोग करता है किन्तु त्याग का भी आदर करता है। वह तप नहीं करता है, क्योंकि स्वभाव से ही वह जितना विलासी है उतना ही सयमी भी है। इन्द्रियों को वह विषय की ओर आकृष्ट होने देता है, क्योकि वह जानता है कि इन्द्रियाँ उसे जीत नही सकती है। वह दूसरो को जीत सकता है, क्योकि उसने स्वयं को जीता है। इस प्रकार मुंज के मानस का यह दूसरा पक्ष समझे विना उसका व्यक्तित्व पूर्ण रूपसे नही समझा जा सकता। कुछ इसी ढग से, परन्तु इससे कही अल्प मात्रा मे, श्री मुन्शी भी दो परस्पर विरोधी वृत्तियो के बल से प्रेरित होते हैं। कितनी ही बार ऐसा भास होता है कि श्री मुन्शी एक नही हैं, दो है। परन्तु दो होकर भी एक होना इन्होने सीख लिया है। जीवन के उल्लास की ये पूजा करते हैं, विलास, आनंद,सुख, सुविधा ये सब इन्हें प्रिय हैं। इन्हे प्राप्त करने के लिए ये प्रयत्नशील हैं सही, परन्तु सयम और त्याग की भावना भी साथ-ही-साथ इन्हे आकृष्ट किये रहती है। जीवन के आरंभ काल मे इन्हे ऐसा लगा कि 'धनान्यर्जयध्वं धनान्यर्जयध्वम्' यह शान्त मनुष्य का सूत्र है, और इन्होने अपनी सभी शक्तियो को एकाग्र करके द्रव्योपार्जन किया। परन्तु जब देश के लिए, स्वयं विचारी हुई भावना की सिद्धि के लिए, इस धनोपार्जन की वृत्ति का त्याग करना आवश्यक जान पडने लगा तब चारो ओर से बरसते हुए द्रव्य को छोड़ते समय इन्हे थोडा-सा भी विषाद नही हुआ। सदा सुख और सुविधा

लिए कि विरोधी को तग करना, या उसे अपमानित करना ये क्षुद्र मनुष्य का काम समझते है। विरोधी के साथ मित्र के समान प्रेम व्यवहार करने का साधुत्व उनमे नही है। शत्रु को प्रेम से वश में करने के सिद्धान्त को वे संभवतः मानते हैं किन्तु उसमें भी प्रेम की अपेक्षा शत्रु को झुकाने की इच्छा कदाचित् अधिक ही होगी। महात्माजी के ये प्रशंसक है, उनके सिद्धान्तो के प्रति भी इनकी भक्ति है,फिर भी यह कहना कठिन है कि अपने शत्रु पर सदा प्रेम की ही वर्षा करना, उसके हृदय पर थोडा-सा भी आघात न पहुँचने देने वाला व्यवहार रखना मुंशीजी चाहते होगे। इतना सब होने पर भी इन्होंने अपने विरोधियो को सहायता पहुचाई है, इसके अनेक उदाहरण है।

श्री मुंशी ने कितनी बार अर्ध-परिहास में और अर्ध-गम्भीरता से कहा है कि 'कृतघ्नता ही इस विश्व का नियम है। इस सम्बन्ध मे इन्हे बहुत-से कटु अनुभव भी हुए है। कितनी ही बार उपकारी के प्रति उपकृतकी यह भी भावना होती है—'तुमने मुझे उपकार किया तो क्या हुआ मैंने अपनी स्वतन्त्रता तुम्हारे हाथ नही वेची है। मै तुमसे नहीं दब सकता हूँ।' और इसीलिए बहुत-से लोग अपने उपकारी का "सिद्धान्त के लिए" विरोध भी करते हैं। आत्म-सम्मान की वृत्ति, अपने तेज का संरक्षण करने की इच्छा कितनी ही बार मनुष्य को इस प्रकार की प्रवृत्ति मे प्रेरित करती है। परन्तु यदि उपकारी पर अपकार करना सामान्य नियम हो तो श्री मुंशी स्वयं ही उसके महा अपवादरूप हैं। अपने सम्पर्क मे आने वाले किसी व्यक्ति को ये भूलते नही हैं। इनका जिसने थोडा-सा भी काम किया हो उसे ये आजन्म नही भूल सकते है। भिन्न-भिन्न कार्य-प्रसङ्ग के समय अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति का यथाशक्य कल्याण करने के लिए ये सदैव तत्पर रहते है। इनके और इनके अधीन काम करने वालों के बीच का सम्बन्ध केवल स्वामी और सेवक जैसा नही रहता है। मनुष्यो का उपयोग करने की कुशलता इनमें है। परन्तु रस निकाली हुई ईख की खोई के समान किसी से काम

निकालकर ये उसे छोड़ नहीं देते हैं। 'क' पुरुष से काम लेते समय आवश्यकतानुसार ये कठोर हो सकते हैं, कदाचित किसी को कठोर लगने वाली मुद्रा भी ये प्रसङ्गानुसार धारणकर सकते हैं। फिर भी इनके हृदय का स्वभावसिद्ध औदार्य कभी भी कम नहीं होता है। इनके ओष्ठ क्वचित कठोरता के समय बंद हो जाते हैं सही, परन्तु दीर्घ समय तक ये उन पर नृत्य करते हुए स्मित का त्याग नहीं कर सकते हैं। इनका रोष कितनी ही बार ऐसा उग्र हो जाता है कि मनुष्य को घबराहट में डाल दे, और देखने वाले को भी ऐसा लगने लगता है कि कौन जाने ये क्या कर डालेंगे। परन्तु थोड़े ही समय में नलिनीदल पर पड़े हुए जल के समान इनका रोष शान्त हो जाता है और ये पुनः चित्त की प्रसन्नता प्राप्त कर लेते हैं। इनके स्वभाव में रही हुई तेजस्विता कभी-कभी जलाती है सही, परन्तु सामान्य रीति से इनकी भावप्रबलता को ही प्रेरित करने वाली होती है।

अपूर्व वीरता के कार्य भी कराती है। श्री मुंशी के लगभग सभी उपन्यास, सभी प्रहसन और आसद नाटक प्रणय के किसी-न-किसी स्वरूप को ही लक्ष्य करके लिखे गए है। ये मानते है कि मनुष्य के कार्यों का बडा-से-बडा प्रवर्तक-हेतु यह प्रणय भाव ही है। यहाँ तक कि भक्ति की भावना को भी ये, फ्रॉयड के अनुसार प्रणय भावना का उदात्त रूप ही मानते हैं। इस प्रेमकी भावनाने इनके हृदय का कैसा महामन्थन किया है उसका परिचय इनके 'शिशु और सखी' से ही सहज में किया जा सकता है। कलापी की हृदय त्रिपुटी का कुछ अंश मे स्मरण कराने वाले इनके इस ग्रन्थ मे शिशु की उत्कण्ठा का, उसके सूक्ष्म होने पर भी सारे हृदय को भर देने वाले प्रणय-भाव का जो मर्मस्पर्शी आलेखन किया गया है उसे देखकर यह कैसे कहा जा सकता है कि 'उसके पीछे स्वानुभव की प्रेरणा नही है। शरीर और मनके द्वारा झंखते हुए जगत मे सखी के लिए विह्वल होने वाले शिशु मे, अरुन्धती के लिए आकाश-पाताल एक कर देने वाले वशिष्ठ मे श्री मुंशी स्वय कितने अंशमे रहे हैं यह कहना कठिन है। परन्तु इनके पात्रों का यह प्रेरक भाव श्री मुंशी के जीवन में भी प्रेरक बल रूप से रहा हुआ है ऐसा अनुभव हुए बिना नही रहता।

जीवन का भार हलका करने वाली, निराशा और दु.ख के विष को उतारने वाली विनोदवृत्ति श्री मुंशी मे प्रकृतिदत्त है। ये सदैव अपनी प्रतिष्ठा और पदवी के अनुरूप गांभीर्य धारण करते हैं, फिर भी ऐसा नहीं लगता है कि गांभीर्य इनकी स्वाभाविक वृत्ति हो। इनकी प्रकृति विनोद-प्रधान है। अन्य प्रवृत्तियो के भारके नीचे से, गंभीरता के आच्छादनके नीचे से भी यह विनोद-वृत्ति झांके बिना रह नही सकती है। इनके प्रहसनों में वृत्ति प्राण भरती है, इनके भाषणो को रसिक व्यंग्य से अंकित करती है, इनके प्रसङ्ग-चित्रो और पात्रालेखन को आकर्षक बनाती है। इतना ही नहीं, वरन् कार्य का असह्य भार रहने पर भी इनके जीवन रस को, इनकी उल्लासप्रियता को यह वृत्ति सदैव सतेज

और जीवित रखती है। अनेक प्रकार के आक्षेपों, जान या अनजान में लगाये हुए अनेक प्रकार के आरोपों तथा शिष्टता की सीमा को उल्लंघन कर जाने वाली निंदा-वर्षाओं को भी जो ये चुपचाप पी गए हैं, उनकी ओर से पराङ्मुख रहे हैं, इसका कुछ कम श्रेय इनकी विनोद-वृत्ति को नहीं है। हँस करके ये निंदा की या विरोध की धार कुंठित कर सकते हैं। इनकी विनोद-वृत्ति बहुधा निर्दोष और सामने वाले को डस लेने की इच्छा से सर्वथा मुक्त होती है। जब ये कटाक्ष का आश्रय लेते हैं, तब वह इतनी तीक्ष्ण होती है कि सरलता से भुलाई नहीं जा सकती। मुंबई की साहित्य परिषद् के संबंध में, इनके द्वारा लिखे हुए लेखों में तथा विरोधियों को उत्तर देते समय धारासभा में जो इन्होंने भाषण किये उनमें यह कटाक्षकला पूर्ण चरमावधि को पहुँची हुई दिखाई देती है। विनोद-वृत्ति के बिना वस्तु के प्रमाण का भान ठीक-ठीक नहीं हो पाता है। इसके अभाव में छोटी-छोटी बातों को भी सहज में ही बड़ा स्वरूप दे दिया जाता है। जीवन की क्षुद्र निष्फलताओं, निराशाओं और क्लेशों के द्वारा सारे जीवन को अन्धकारमय बनने से यह वृत्ति रोकती है। इसी विनोदवृत्ति के कारण द्वेष, ईर्ष्या आदि अवगुणों को इतना अवकाश नहीं मिल पाता कि मनुष्य को उदात्त स्थान से भ्रष्ट करके नीचे ढकेल दे। जीवन में कटुता के अंश न आने देने तथा हृदय के स्वाभाविक औदार्य को विचलित न होने देने में भी श्री मुन्शी के लिए यह विनोद-वृत्ति बहुत अंशों में अवश्य उपयोगी सिद्ध हुई होगी।

श्री मुन्शी को हमारी प्राचीन संस्कृति का गर्व है। आर्य संस्कृति का वर्णन करते ये थकते नहीं हैं। परन्तु इस संस्कृति में आज हमारे व्यवहार में दिखाई देने वाली रूढ़ियों का साम्राज्य नहीं है, जाति के छोटे-छोटे घेरों में बँधी हुई कुछ परिमित लोगों द्वारा स्वयंकृत कूप-मण्डूकता की भावना नहीं है। संमिलित कुटुम्ब की प्रथा, वैराग्य भावना, वर्णा-श्रम [illegible] और [illegible] आचारों की [illegible] भावना, संस्कृत भाषा

का महत्व और वेद के अपौरुषेत्व की भावना से प्रतीत होने वाला ऐतिहासिक सातत्य—इनको ये आर्य संस्कृति के विशिष्ट लक्षण मानते है। ये मानते हैं कि सामाजिक प्रणालिकाएँ और धार्मिक विश्वास हमारे संस्कार के पोषक और प्रचारक है, परन्तु ये स्वयं संस्कार नही हैं और कालक्रम से दूसरी साधन-समृद्धि के साथ ये बदलते जाते हैं। संस्कृति का मूल ऐतिहासिक अविच्छिन्नता के विश्वास मे आर्यावर्त की एकता की प्रतीति मे बसा हुआ है, देशकालाघवच्छिन्न जो सनातन आदर्श आर्यों ने अङ्कित किये हैं उनमे बसा हुआ है, आर्यों ने समग्र जीवन के तत्वदर्शन उसके हेतु और ध्येय के विषय में जिस भावना से प्रेरित होकर सिद्धान्त स्थिर किए हैं उस भावना में बसा हुआ है, "सर्वव्यापी और दुर्धर्ष तन्मयता के द्वारा साधनसम्पत्ति के उपयोग करने मे ही आर्यावर्त की अमर कीर्ति का रहस्य बसा हुआ है।" प्रत्येक पुरुष का निराला व्यक्तित्व है। संकल्पपूर्वक समाधि, ध्यान, धारणा, मनन और निदिध्यासन के द्वारा इसके व्यक्तित्व का विकास होता है। उसको स्वयं अपना सत्य निर्माण करना होता है, अपना ध्येय निश्चित करके उसकी सिद्धि के लिए उसे श्रम करना होता है, अपने स्वभाव धर्म का अनुसरण करके उसे ध्येय की सिद्धि साधनी होती है। मनुष्य का व्यक्तित्व समाज की अपेक्षा विशेष महत्वपूर्ण है। अपने स्वभाव धर्म के अनुसार गढी हुई जो भावना है उसकी सिद्धि के लिए धर्माचरण करना पडता है। परन्तु यह धर्माचरण केवल शास्त्र और रूढि मे अंध-श्रद्धा करके नही, वरन् अपने अनुभव से स्थिर होता है। अन्य संस्कृति और आर्य संस्कृति के बीच यही महत्वपूर्ण भेद है। दूसरे धर्म मानते है कि प्रत्येक व्यक्ति व्यक्ति-रूपसे ही रहेगा, धर्माचरण से कदाचित् वह संत बन जाय, परन्तु उसका व्यक्तित्व अनंतत्व, अथवा ब्रह्म या ईश्वर के साथ कभी एकरूप नहीं होता है। आर्य संस्कृति इससे भिन्न संदेश देती है। राग-द्वेष से परे रहकर, स्थितप्रज्ञ की स्थिति प्राप्त करके इसी जीवन में परम आत्मा का—ब्राह्मी स्थिति का—साक्षात्कार करना ही

मुंशीजी जीवन का परम ध्येय मानते हैं।

गीता और योगशास्त्र की ओर श्री मुंशी की अधिक अभिरुचि प्रतीत होती है। इनमें प्रदर्शित किये हुए सिद्धान्तों और भावनाओं ने श्री मुंशी के जीवन पर, इनके जीवन के आदर्शों पर अधिक प्रभाव डाला है। नीत्शे, शापनहोर और फ्रॉइड जैसे समर्थ तत्त्वचिन्तकों और विचारकों ने इनकी जीवन-भावना के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग दिया है, फिर भी इनका जीवन-दर्शन मुख्य रूपसे आर्य भावना के—विशेषतः गीता तथा योगशास्त्र में वर्णन की हुई आर्य भावना के—रंग में रँगा हुआ है।

श्री मुन्शी ईश्वर को मानते हैं या नहीं यह हम नहीं जानते, परन्तु मनुष्य जिसका साक्षात्कार कर सकता है ऐसे किसी परम सत्य में इन्हें अवश्य श्रद्धा है। इनकी धर्म भावना परम्परागत आचार-विचार में बँधी हुई नहीं है, परन्तु इन्होंने जो सत्य ढूँढ़ा है, जो जीवन-दर्शन गढ़ा है, और जिस भावना के द्वारा इनका आभ्यन्तर जीवन अङ्कित हुआ है उसकी सिद्धि के लिए इनके संकल्पजन्य प्रयत्नों को इनकी धर्मभावना कहा जा सकता है। जिसे इन्होंने सनातन सत्य रूप से स्वीकार किया है उस पर ये धार्मिक पुरुष की श्रद्धा के समान चिपके रहते हैं।

पीछे सूक्ष्म भावना का बल भरा हुआ है और यह भावना आर्यावर्त की एकता की सिद्धि के दर्शन और आर्यसंस्कृति की ऐतिहासिक अविच्छिन्नताके विश्वास पर रची गई। राजकीय एकता और स्वतन्त्रता इन्हें इष्ट हैं, परन्तु यदि उसके मूल में सांस्कृतिक अविच्छिन्नता और एकता न हो तो उसका कोई अर्थ नहीं है। वे मानते हैं कि यह ऐसी एकता हो कि आर्यावर्त की एकता और उसकी संस्कृति का प्रचार, दूसरे देशों या उनकी संस्कृति के लिए बाधक न होकर उनके लिए उपकारक और सहायक सिद्ध हो। इनका यह भी विश्वास है कि महात्मा गाँधीजी में फिर से यह संस्कृति नवीन रूप से जीवित हुई है, वे आर्य-संस्कृति के अवतार समान हैं और उनके द्वारा दिखलाया हुआ मार्ग देश के लिए, राष्ट्र के लिए या सारे समाज के लिए कदाचित् नवीन प्रतीत हो। यह सत्य और अहिंसा का मार्ग प्राचीनकाल से अनेक संत और साधु पुरुषों के पदों से अंकित हुआ है और महात्माजी के द्वारा आर्यावर्त का यह संदेश जगत् मान ले तो जिस शान्ति के लिए आज दुनिया भटक रही है उसकी सरलता से प्राप्ति हो सकती है।

गुजरात के लिए श्री मुंशीको अपूर्व ममत्व है। गुजरात की अस्मिता शब्दका प्रयोग इन्होंने ही सबसे पहले किया है। गुजरात आदि आर्यावर्त के भिन्न-भिन्न अंगोंका अपना-अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है। इस व्यक्तित्व का विकास करना वे अपना परम कर्तव्य समझते हैं। आर्यावर्तके विकास में गुजरात का विशेष हाथ है। योगसूत्र में से 'अस्मिता' शब्द श्री मुंशी १९१३-१४ में ले आए। परन्तु योगसूत्र में जिस अर्थ के लिए इस शब्द का व्यवहार हुआ है उसकी अपेक्षा इन्होंने भिन्न ही अर्थ में इस शब्द का उपयोग किया है। अस्मि—ता, 'मैं हूँ'—इसका प्रयोग ये आत्म-प्राधान्य के अर्थ में करते हैं। श्री मुंशी बतलाते हैं कि कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य इस अस्मिता के आद्य द्रष्टा थे और उनके बाद प्रेमानंद, नर्मद आदि से प्रारम्भ करके महात्माजी तक के अनेक ज्योतिर्धरों ने इस अस्मिता की अखण्ड ज्योति जीवित रक्खी है। परन्तु

कर अवशिष्ट भाग को आत्मसात् करके उसे पचा लिया। आर्यावर्त इस प्रकार के पर-संस्कार को गलाने और पचाने का सदैव प्रयोगक्षेत्र रहा है। इस कार्य में गुजरात ने आर्यावर्त को बहुत सबल सहायता पहुँचाई है। गुजरात मे परसंस्कार के विष गलाकर अलग निकाल देने की भट्टी सदा से ज्वलंत रही है। इसके अनेक सुपुत्रोंने पर-संस्कारकी मोहिनी का विष पचाकर आर्यावर्त के संस्कार का संरक्षण किया हैं। आर्यसंस्कार को इस पर-संस्कार के आक्रमण से बचा लेने वाले अनेक गुर्जर ज्योतिर्धरों की अखण्ड परंपरा श्री मुंशी को दिखाई देती है और 'गुजरात के ज्योतिर्धरों' मे इन्होंने उनके शब्दचित्रों का आलेखन किया है।

श्री मुंशी की इस उग्र गुजरात-भक्ति के सम्बन्ध मे बहुत-सी भ्रांत धारणाएँ प्रचलित है— 'ये प्रान्तीयताके उपासक हैं,देश के विभिन्न प्रांतों के बीच वैमनस्य की वृद्धि का प्रचार कर रहे हैं, गुजराती के अतिरिक्त अन्य किसी के प्रति इनकी सहानुभूति नहीं है, गुजरात का ममत्व होने के कारण ये दूसरे प्रातो को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, इनकी यह प्रांत-भक्ति, राष्ट्रभावना और देशभक्ति में बाधक होती है,' ऐसे-ऐसे अनेक आक्षेप बहुत से लोग भ्रमवश कर रहे हैं। इतना ही नहीं, बहुतसे निष्पक्ष और बुद्धिमान् व्यक्तियो की ओर से भी इस प्रकार के आक्षेप किये गए हैं।

श्री मुंशी की गुजरात की अस्मिता की भावना देशभक्ति या राष्ट्र-भावना की विरोधी नहीं है, प्रत्युत उसकी पोषक है। ये स्पष्ट रीति से कहते हैं कि 'आर्यावर्त मे गुजरात अलग नहीं रह सकता।' परन्तु ऐसी भावना यदि प्रान्तीयता की सिद्धि के लिए सेवन की जाय तो अवश्य संकुचित बनती है और राष्ट्रविधान मे बाधक बनती है। यदि ये भाव परस्पर-विरोधी न हो तो भारत जैसे देश में जहाँ सामाजिक और धार्मिक भेदों के ढेर-के-ढेर हैं वहाँ प्रान्तीय प्रेम की निसैनी के द्वारा ही राष्ट्रीयता की सिद्धि तक पहुचा जा सकता है। और यह समझना कठिन नहीं है कि ये भाव परस्पर विरोधी नहीं है, वरन एक दूसरे के पोषक हैं

कराने के लिए इनकी तीव्र उत्कण्ठा है। इसके लिए इनकी इच्छा थी कि कोई विद्यापीठ स्थापित किया जाय। सयोग से सेठ भूँगालाल गोयनका की आर्थिक सहायता प्राप्त होते ही इनके सभापतित्व मे भारतीय विद्याभवन की स्थापना होगई।

इस प्रकार श्री मुंशी ने विविध क्षेत्रो में कुछ-न-कुछ सिद्धि प्राप्त की है। परन्तु इन सबकी अपेक्षा इनके द्वारा की हुई गुजराती साहित्य की सेवा कभी नही भुलाई जा सकती। यहां साहित्यकार रूप से इनकी तुलना करना अथवा इनकी कृतियो के गुण दोष की चर्चा करना अस्थानस्थ है, परन्तु साहित्य के जिन-जिन प्रदेशों में इन्होने प्रवेश किया है उनमें ये कुछ-न-कुछ अपूर्वता लाये हैं। सरस्वतीचन्द्र के पश्चात् सूखे हुए नवलकथा के प्रवाह को इन्होंने पहले की अपेक्षा बहुत अधिक वेग से प्रवाहित किया है। केवल एक ही प्रकार के पुतले बने हुए पात्रों के बदले इन्होंने मानवता के सभी भावो से भरी हुई, सजीव और तेजस्वी पात्रसृष्टि गुजराती साहित्य मे उतारी है। तन मन, रमा, मंजरी, मीनल मृणाल, प्रसन्न आदि सुकुमार और तेजस्वी, स्नेहशील और गर्वीली, स्त्रियाँ हमारे साहित्य की शोभा बढाती है। इसी प्रकार जगत, अनंतानंद, मुंज, मुंजाल, कांक, ऊदो, त्रिभुवनपाल, जयसिंह, रा'खेगार आदि अनेक प्रतापशाली, बुद्धिवैभव से चमकनेवाले पात्र हमारे साहित्य में चिरंजीव होने के लिए उतारे गए है। हमारे कथानक साहित्य में जो रोनी सूरतवाले थे उन्हे निकालकर उनके स्थान पर वीरता का आलेखन बहुत समर्थ रीति से श्री मुंशी ने किया है। इनका करुणरस भी रुग्ण नहीं, भव्य और ओजस्वी प्रतीत होता है।

हमारे साहित्य में नाटक बहुत ही कम है। साहित्य के इस अंग का बहुत ही अल्प विकास हुआ है। उसमे रंगभूमि के नाटको और शिष्ट नाटकों के बीच तो किसी प्रकार का सम्बन्ध रहा ही नहीं। ऐसी स्थिति मे भी मुंशी ने प्रहसन और करुणान्त नाटक लिखकर हमारे अल्पधन नाटक साहित्य का दारिद्रय बहुत अंश मे दूर किया है। प्राणवान पात्र,

[illegible] रहस्य से शोभायमान, स्वाभाविक और उचित संवाद, वस्तु का कुशलतापूर्वक ग्रथन, ये सब इनके नाटकों के मुख्य लक्षण हैं; परन्तु इनके अतिरिक्त ये सब अधिक परिमाण में खेलने योग्य होते हैं यह उन की विशिष्टता है। रंगभूमि पर अनेक बार सफलतापूर्वक इनके अनेक नाटक खेले जा चुके हैं।

उपन्यास और नाटक के अतिरिक्त इन्होंने विवेचन, साहित्य का इतिहास, प्रवासवर्णन इत्यादि साहित्य के अनेक अंगों का स्पर्श किया है और इन सबमें गुजराती साहित्य को समुन्नत बनाया है।

हमारे साहित्य का सार्वदेशिक विकास करने के लिए ये प्रयत्नशील रहे हैं। साहित्य संसद की इन्होंने इसी उद्देश्य से स्थापना की थी और उसके प्रमुखपद पर रहकर कितने ही लोगों को कलम पकड़ना सिखाया है तो कितने ही व्यक्तियों को रुके हुए कलम को पुनः उनके हाथ में दे दिया है। गुजराती साहित्य का सम्पूर्ण इतिहास तथा गुजराती भाषा का कोष निर्माण कराने के लिए भी इन्होंने यथाशक्य सब प्रयत्न किये